ईशा उपनिषद

वैदिक
सनातन

विषय सूची

भूमिका "वेदों की शिक्षाएँ"..१
ईश-स्तुति... १४
मंत्र १.. १८
मंत्र २..२५
मंत्र ३.. ३१
मंत्र ४.. ३६
मंत्र ५..४१
मंत्र ६.. ४८
मंत्र ७.. ५३
मंत्र ८.. ५८
मंत्र ९..६६
मंत्र १०..७२
मंत्र ११.. ७९
मंत्र १२...,. ८८
मंत्र १३..९६
मंत्र १४..१०७
मंत्र १५..११५
मंत्र १६.. ....१२४
मंत्र १७..१३१
मंत्र १८..१४२

भूमिका

"वेदों की शिक्षाएं"

देवियों तथा सज्जनों, आज के प्रवचन का विषय है "वेदों की शिक्षाएं।" वेद क्या है ? संस्कृत में वेद की मूल धातु विद् की व्याख्या कई प्रकार से की जा सकती है लेकिन अन्तत: उद्देश्य एक ही है। वेद का अर्थ है 'ज्ञान'। कोई भी ज्ञान जिसे आप स्वीकार करते हैं-वेद है, क्योंकि वेदों की शिक्षाएँ मूल ज्ञान हैं। बद्ध अवस्था में हमारे ज्ञान में अनेक अपूर्णताएँ रहती हैं। | बद्ध आत्मा तथा मुक्त आत्मा में यही अंतर है कि बद्ध आत्मा में चार प्रकार के दोष पाए जाते हैं। पहला दोष यह है कि वह त्रुटियाँ करता ही है। उदाहरणार्थ, हमारे देश में महात्मा गांधी अत्यंत महान् पुरुष माने जाते थे लेकिन उन्होंने अनेक त्रुटियाँ की। यहाँ तक कि अपने जीवन की अन्तिम अवस्था में उनके सहायक ने उन्हें सावधान किया था, "गांधीजी! आप नई दिल्ली की सभा में न जाँए। मेरे कुछ मित्र हैं और मैंने उनसे सुना है कि वहाँ खतरा है ।" किन्तु उन्होंने एक न सुनी। उन्होंने जाने का हठ किया और वे मारे गए। महात्मा गांधी तथा राष्ट्रपति केनेडी जैसे महान् व्यक्ति भी न जाने कितने ऐसे लोग हैं-त्रुटियों करते हैं। त्रुटि करना मनुष्य का स्वभाव है। यह बद्ध आत्मा का एक दोष है।

दूसरा दोष है भ्रमित होना। भ्रम का अर्थ है, जो नहीं उसे स्वीकार करना अर्थात् माया। माया का अर्थ है "जो नहीं है।" प्रत्येक व्यक्ति शरीर को 'स्व' मान बैठता है। यदि मैं आपसे पूछूँ कि आप क्या हैं तो आप कहेंगे, "मैं मिस्टर जॉन हूँ; मैं धनी व्यक्ति हूँ; मैं यह हूँ; मैं वह हूँ।" ये सब देह से संबंधित परिचय है। किन्तु आप यह शरीर नहीं हैं। यह माया है।

तीसरा दोष है धोखा देने की प्रवृत्ति । प्रत्येक व्यक्ति में दूसरों को ठगने की प्रवृत्ति पाई जाती है। कोई व्यक्ति पहले दर्जे का मूर्ख क्यों न हो, किन्तु वह भी अत्यन्त बुद्धिमान होने का

दिखावा करता है। यद्यपि यह पहले कहा जा चुका है कि वह माया में रहता है और त्रुटियाँ करता है लेकिन वह तर्क करता है, "मैं सोचता हूँ कि यह ऐसा है, वह वैसा है। लेकिन उसे अपनी ही स्थिति का भी ज्ञान नहीं होता। वह दर्शन पर पुस्तकें लिखता है, यद्यपि वह स्वयं दोषी रहता है । यही उसका रोग है। यही धोखाधड़ी है।

अन्तिम बात यह है की हमारी इन्द्रियां अपूर्ण हैं। हमें अपनी आँखों पर बड़ा गर्व होता है । प्रायः कोई व्यक्ति ललकारेगा, "क्या तुम मुझे ईश्वर दिखा सकते हो?" लेकिन क्या आपके पास ईश्वर का दर्शन करने के लिए आँखें हैं भी? यदि आपके पास आँखें नहीं हैं, तो आप उनके दर्शन कभी नहीं कर सकोगे। यदि एकाएक कमरे में अँधेरा हो जाए तो आप अपने हाथों को भी नहीं देख सकते अतएव आपके पास दर्शन करने की शक्ति ही क्या है ? अत: हम अपनी इन अपूर्ण इन्द्रियों से ज्ञान (वेद) प्राप्त करने की अपेक्षा नहीं कर सकते। बद्ध जीवन में इन दोषों के होते हुए हम किसी को पूर्ण ज्ञान प्रदान नहीं कर सकते। न ही हम स्वयं पूर्ण हैं। अतएव हम वेदों को यथारूप में स्वीकार करते हैं।

आप वेदों को 'हिन्दू' कह सकते हैं लेकिन 'हिन्दू' नाम विदेशी है। हम 'हिन्दू' नहीं हैं। हमारी असली पहचान वर्णाश्रम है। वर्णाश्रम वेदों के उन अनुयायियों का सूचक है, जो मानव समाज में वर्ण तथा आश्रम के आठ विभागों को मानते हैं। चार विभाग समाज के हैं और चार विभाग आध्यात्मिक जीवन के हैं। यह वर्णाश्रम कहलाता है। भगवद्गीता में (४.१३) में कहा गया है, "ये विभाग सर्वत्र पाए जाते हैं क्योंकि ये ईश्वर द्वारा सृजित हैं।" समाज के विभाग हैं-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र। ब्राह्मण अत्यन्त बुद्धिमान वर्ग के उन मनुष्यों का सूचक है, जो यह जानते हैं कि ब्रह्म क्या है। इसी प्रकार क्षत्रिय या प्रशासक वर्ग बुद्धिमान मनुष्यों का अगला वर्ग है। तब वैश्य अर्थात् व्यापारी वर्ग आता है। यह प्राकृतिक वर्गीकरण सर्वत्र पाया जाता है। यही वैदिक सिद्धान्त है और हम इसे स्वीकार करते हैं । वैदिक सिद्धांत स्वयं-सिद्ध सत्य के रूप में स्वीकार किए जाते हैं क्योंकि उनमें कोई त्रुटि नहीं हो सकती। यह स्वीकृति है। उदाहरणार्थ, भारत में गोबर को शुद्ध माना जाता है; फिर गोबर पशु का मल है। एक स्थान पर आप यह वैदिक आदेश पाएंगे कि यदि आप मल को छू लेते हैं, तो आपको तुरन्त स्नान करना होगा। लेकिन दूसरे स्थान पर यह कहा गया है कि गाय का मल (गोबर) शुद्ध होता है। यदि आप किसी अशुद्ध स्थान को गोबर से लीप दें तो वह शुद्ध हो जाता है। हम अपनी सामान्य इन्द्रिय से तर्क कर सकते हैं, "यह विरोधाभास है।" वास्तव में सामान्य दृष्टि में यह विरोधाभास लगता है लेकिन यह मिथ्या नहीं है। यह तथ्य है। कलकत्ता के एक प्रमुख वैज्ञानिक तथा डॉक्टर ने गोबर का विश्लेषण करके यह पता लगाया है कि इसमें समस्त रोगाणुनाशक गुण पाए जाते हैं।

भारत में यदि कोई व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति से कहता है 'तुम्हें यह करना चाहिए" तो दूसरा व्यक्ति यह कह सकता है, “तुम क्या कहना चाहते हो? क्या यह कोई वैदिक आदेश है, जो मैं बिना तर्क के तुम्हारा कहना मान लूँ?" वैदिक आदेशों की व्याख्या नहीं की जा सकती। लेकिन अंततः यदि आप ध्यानपूर्वक अध्ययन करें कि ये आदेश क्यों हैं, तो आप पाएँगे कि ये सभी सही हैं।

वेद मानवीय ज्ञान के संकलन नहीं हैं। वैदिक ज्ञान आध्यात्मिक जगत से अर्थात भगवान कृष्ण से आता है। वेदों का अन्य नाम श्रुति है। श्रुति उस ज्ञान की सूचक है जिसे सुनकर अर्जित किया जाता है। यह प्रायोगिक ज्ञान नहीं है। श्रुति माता के तुल्य मानी जाती है । बहुत सारा ज्ञान हमें अपनी माता से ही प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ, यदि आप जानना चाहे कि आपका पिता कौन है, तो इसका उत्तर कौन दे सकता है? आपकी माता । यदि माता कहती है, "ये रहे तुम्हारे पिता'" तो तुम्हें स्वीकार करना पड़ता है। प्रयोग करके यह ज्ञात कर पाना कि वह आपको पता है कि नहीं, संभव नहीं है इसी तरह यदि आप अपने अनुभव से परे, अपने प्रायोगिक ज्ञान से परे, अपनी इन्द्रियों के कार्यों से परे, कुछ जानना चाहते हैं, तो आपको वेदों को स्वीकार करना होगा। इसमें प्रयोग करने का प्रश्न ही नहीं उठता। इसका प्रयोग पहले ही हो चुका है। यह निश्चित हो चुका है। उदाहरणार्थ, माता के कथन को सत्य मानना होता है। इसके लिए कोई अन्य उपाय नहीं है।

वेदों को माता माना जाता है और ब्रह्माजी पितामह कहलाते हैं क्योंकि सर्वप्रथम उन्हें ही वैदिक ज्ञान की शिक्षा दी गई थी। प्रारम्भ में प्रथम जीव ब्रह्माजी ही थे। उन्होंने यह वैदिक ज्ञान प्राप्त किया और इसे नारद तथा अन्य शिष्यों और पुत्रों को प्रदान किया जिन्होंने इसे अपने अपने शिष्यों में वितरित किया। इस प्रकार वैदिक ज्ञान गुरु-शिष्य परम्परा द्वारा आगे चलता आता है। भगवद्गीता में भी इसकी पुष्टि की गई है कि वैदिक ज्ञान इसी विधि से समझा जाता है। यदि आप प्रयोगात्मक प्रयास करें तो भी आप इसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे लेकिन समय की बचत करने की दृष्टि से आपको इसे स्वीकार कर लेना चाहिए। यदि आप यह जानना चाहते हैं कि आपके पिता कौन हैं और यदि आप अपनी माता को प्रमाण स्वरूप मान लेते हैं, तो वे जो कुछ कहती हैं उसे आप बिना किसी तर्क के स्वीकार कर सकते हैं। साक्ष्य (प्रमाण) के तीन प्रकार हैं-प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द। प्रत्यक्ष का अर्थ है सीधा प्रमाण। प्रत्यक्ष प्रमाण अत्युत्तम नहीं होता क्योंकि हमारी इन्द्रियाँ पूर्ण नहीं हैं। हम नित्य ही सूर्य को देखते हैं और हमें यह एक छोटी सी थाली सा लगता है, किन्तु यह अनेक लोकों की अपेक्षा कहीं अधिक विशाल है। तो ऐसे देखना किस काम का है ? अतएव हमें पुस्तकें पढ़नी होती हैं; तब हम सूर्य के विषय में समझ सकते हैं। अतः प्रत्यक्ष अनुभव पूर्ण नहीं होता। तब आता है अनुमान-अनुमानित ज्ञान-जिसकी कल्पना है, "यह ऐसा हो सकता है।" उदाहरणार्थ, डार्विन

का सिद्धांत बताता है कि यह ऐसा हो सकता है, यह वैसा हो सकता है लेकिन यह कोई विज्ञान नहीं है। यह एक सुझाव है और पूर्ण भी नहीं है। किन्तु यदि आप प्रामाणिक स्रोतों से ज्ञान प्राप्त करते हैं, तो वह पूर्ण है। यदि आपको रेडियो स्टेशन के अधिकारियों से कोई कार्यक्रम-निर्देशिका प्राप्त हो, तो आप उसे स्वीकार कर लेते हैं। आप उसे अस्वीकार नहीं करते। इसके लिए आपको कोई प्रयोग नहीं करना होता क्योंकि यह ज्ञान प्रामाणिक स्रोतों से प्राप्त हुआ है।

वैदिक ज्ञान को शब्द-प्रमाण कहा जाता है। इसका दूसरा नाम श्रुति है। श्रुति का अर्थ है कि इस ज्ञान को मात्र श्रवण विधि द्वारा प्राप्त करना होता है। वेदों का आदेश है की दिव्य ज्ञान को समझने के लिए हमें अधिकारी (प्रामाणिक व्यक्ति) से सुनना होता है। दिव्य ज्ञान वह ज्ञान है, जो इस ब्रह्माण्ड से परे है। इस ब्रह्माण्ड के भीतर तो भौतिक ज्ञान है और इसके परे दिव्य ज्ञान है। हम ब्रह्माण्ड के अन्तिम छोर तक भी नहीं जा सकते तो भला आध्यात्मिक जगत तक कैसे जा सकते हैं? इस तरह पूर्ण ज्ञान अर्जित कर पाना असंभव है।

एक आध्यात्मिक आकाश है। एक अन्य प्रकृति है, जो व्यक्त तथा अव्यक्त के परे है। लेकिन आप यह कैसे जानेंगे कि एक ऐसा भी आकाश है जहाँ के लोक तथा निवासी शाश्वत हैं? यह सारा ज्ञान उपलब्ध है लेकिन आप प्रयोग कैसे करेंगे? यह सम्भव नहीं है। अतएव आपको वेदों की सहायता लेनी होगी। यह वैदिक ज्ञान कहलाता है। अपने कृष्णभावनामृत आन्दोलन में हम ज्ञान को सर्वोच्च प्रमाण अर्थात् कृष्ण से ग्रहण करते हैं। कृष्ण को सभी वर्ग के लोग सर्वोच्च प्रमाण के रूप में स्वीकार करते हैं।

मैं सर्वप्रथम दो प्रकार के अध्यात्मवादियों के विषय में बात करूँगा। अध्यात्म वादियों का एक वर्ग निर्विशेषवादी या मायावादी कहलाता है। ये सामान्यतया वेदान्ती कहलाते हैं, जिनमें शंकराचार्य प्रमुख हैं। दूसरे प्रकार के अध्यात्मवादी वैष्णव कहलाते हैं - यथा रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, विष्णुस्वामी। शंकर सम्प्रदाय तथा वैष्णव सम्प्रदाय दोनों ने ही कृष्ण को पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान के रूप में स्वीकार किया है। शंकराचार्य को निर्विशेषवादी माना जाता है क्योंकि उन्होंने निर्विशेषवाद या निराकार ब्रह्म का उपदेश दिया लेकिन यह तथ्य है कि वे प्रच्छन्न साकारवादी थे | उन्होंने भगवद्गीता पर अपने भाष्य में लिखा है, "पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् नारायण इस दृश्य जगत से परे हैं।" और आगे फिर इसकी पुष्टि करते हैं, "वे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान नारायण स्वयं कृष्ण हैं। उन्होंने देवकी तथा वसुदेव के पुत्र-रूप में जन्म लिया है।" उन्होंने उनके माता-पिता के नामों का विशेष रूप से उल्लेख किया है। इस तरह सभी अध्यात्मवादी कृष्ण को पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान के रूप में स्वीकार करते हैं। इसके विषय में कोई सन्देह नहीं है। कृष्णभावनामृत में हमारे ज्ञान का स्रोत प्रत्यक्षतः भगवद्गीता

है, जो सीधे कृष्ण से आई है। हमने भगवद्गीता यथारूप प्रकाशित की है क्योंकि हमने कृष्ण जिस रूप में बोलते हैं उसी रूप में उन्हें बिना अपनी किसी व्याख्या के स्वीकार किया है। यही वैदिक ज्ञान है । चूँकि वैदिक ज्ञान शुद्ध होता है अतएव हम उसे स्वीकार करते हैं। कृष्ण जो भी कहते हैं, हम स्वीकार करते हैं। यही कृष्णभावनामृत है। इससे समय की काफी बचत होती है। यदि आप सही प्रमाण या ज्ञान-स्रोत को स्वीकार करते हैं, तो आपके समय की अत्यधिक बचत होती है। उदाहरणार्थ, भौतिक जगत में ज्ञान की दो पद्धतियाँ हैं-निगमनिक तथा आगमनिक। निगमनिक विधि में आप मनुष्यों को मर्त्य स्वीकार करते हैं । आपके पिता कहते हैं कि मनुष्य मर्त्य प्राणी है; आपकी बहन कहती है, मनुष्य मर्त्य प्राणी है; हर कोई कहता है कि मनुष्य मर्त्य है लेकिन आप कोई प्रयोग नहीं करते। आप इस तथ्य रूप में स्वीकार कर लेते हैं कि मनुष्य मर्त्य है। यदि आप यह ज्ञात करने के लिए शोध करना चाहें कि क्या मनुष्य मर्त्य है, तो आपको हर मनुष्य का अध्ययन करना होगा और तब आप यह सोच सकते हैं कि हो सकता है कि कोई ऐसा मनुष्य हो जो न मरे लेकिन आपने उसे अभी तक देखा न हो। इस तरह आपका शोध कार्य कभी समाप्त नहीं होगा। संस्कृत भाषा में यह विधि आरोह अर्थात् ऊपर जाने की विधि कहलाती है। यदि आप अपनी अपूर्ण इन्द्रियों के द्वारा अपने किसी निजी प्रयास से ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं, तो आप कभी भी सही निष्कर्ष तक नहीं पहुँचेंगे ऐसा असम्भव है।

ब्रह्म-संहिता में एक कथन है :आप ऐसे वायुयान पर सवार हो जाइए जो मन की गति से उड़ रहा हो। हमारे भौतिक वायुयान २,००० मील प्रति घण्टे की गति से उड़ सकते हैं लेकिन मन की क्या गति है ? आप अपने घर में बैठे बैठे भारत के विषय में सोचें, जो मान लीजिए १०,००० मील दूर है, तो तुरन्त ही यह मन आपके घर में पहुँच जाता है। आपका मन वहाँ पहुँच गया है। मन का वेग इतना तेज है। अतएव यह कहा गया है, "यदि आप लाखों वर्षों तक इस गति से यात्रा करें तो आप पाएँगे कि आध्यात्मिक आकाश असीम है। उस तक पहुँचना भी सम्भव नहीं है। अतएव वैदिक आदेश है कि मनुष्य को प्रामाणिक आध्यात्मिक गुरु के पास अनिवार्यतः जाना ही चाहिए। यहाँ पर 'अनिवार्य' शब्द का प्रयोग किया गया है। और आध्यात्मिक गुरु की योग्यता क्या होनी चाहिए? उसे वैदिक सन्देश को सही स्रोत से और सही ढंग से सुने हुए होना चाहिए । उसे ब्रह्म में दृढ़ता से स्थापित होना चाहिए । ये ही दो गुण हैं। अन्यथा वह प्रमाण नहीं है ।

यह कृष्णभावनामृत आन्दोलन वैदिक सिद्धांतों के द्वारा पूर्णतः: प्रमाणिक है। भगवत गीता में कृष्ण कहते हैं, " वैदिक शोध का वास्तविक उद्देश्य कृष्ण की खोज करना है।" ब्रह्म-संहिता में भी कहा गया है, "कृष्ण अर्थात् गोविन्द के अनगिनत रूप हैं लेकिन वे सब एक हैं।"

वे हमारे जैसे रूप नहीं हैं, जो विनाशशील हैं। उनका स्वरूप अच्युत है | मेरे स्वरूप का आदि है लेकिन उनके स्वरूप का कोई आदि नहीं है। वे अनन्त हैं और उनका रूप, उनके अनेक रूप भी अनन्त हैं। मेरा स्वरूप तो यहाँ बैठा है; वह मेरे घर में नहीं है। आप यहाँ बैठे हैं और अपने घर में नहीं हैं। लेकिन कृष्ण एक ही समय प्रत्येक स्थान पर हो सकते हैं। वे गोलोक वृन्दावन में बैठे रह सकते हैं और उसी समय वे सर्वत्र, सर्वव्यापी हैं। वे आदि, अर्थात् सबसे प्राचीन हैं लेकिन जब भी आप कृष्ण के चित्र को देखते हैं, तो वे पन्द्रह-बीस वर्ष के तरुण दिखते हैं। आप कभी भी उन्हें वृद्ध नहीं पाएँगे। आपने भगवद्गीता में सारथी रूप में कृष्ण का चित्र देखा है। उस समय वे सौ वर्ष से कम के नहीं थे। उनके प्रपौत्र थे लेकिन तब भी वे बालक जैसे लगते थे। कृष्ण अर्थात ईश्वर कभी बूढ़े नहीं होते। यह उनकी परम शक्ति है। और यदि आप वैदिक साहित्य का अध्ययन करके कृष्ण की खोज करना चाहते हैं, तो आप भ्रमित हो जाएँगे। ऐसा करना सम्भव हो सकता है लेकिन है अत्यंत कठिन। लेकिन आप उनके भक्त से उनके विषय में आसानी से जान सकते है। उनका भक्त उन्हें आपको दे सकता है, "ये रहे वे, उन्हें ग्रहण करो।" यह है कृष्ण के भक्तों की शक्ति।

प्रारम्भ में केवल एक वेद था और उसके पढ़ने की आवश्यकता नहीं थी। लोग इतने बुद्धिमान होते थे एवं उनकी स्मरण शक्ति इतनी तीव्र होती थी कि एक बार आध्यात्मिक गुरु के मुख से सुनकर ही वे इसे समझ लेते थे। वे सम्पूर्ण तात्पर्य को तुरन्त ही ग्रहण कर सकते थे। लेकिन पाँच हजार वर्ष पूर्व व्यासदेव ने इस कलियुग के लोगों के लिए वेदों का लिखित रूप प्रदान किया। उन्हें पता था कि अन्ततोगत्वा लोग अल्पायु होंगे, उनकी स्मरण शक्ति क्षीण होगी और उनकी बुद्धि इतनी तीव्र नहीं होगी। "अतएव मुझे इस वैदिक ज्ञान को लिखित रूप देकर शिक्षा देनी चाहिए ।" उन्होंने वेदों के चार विभाग किए-ऋक्, साम, अथर्व तथा यजुः । तब उन्होंने इन वेदों का कार्यभार अपने विभिन्न शिष्यों को सौंप दिया तब उन्हें मनुष्यों की अल्पज्ञ श्रेणी- स्त्री, शूद्र तथा द्विजबन्धु – का ध्यान आया। उन्होंने स्त्री जाति, शूद्र जाति (श्रमिक) तथा द्विजबन्धु पर विचार किया। द्विजबन्धु वे हैं, जो उच्च कुल में उत्पन्न तो होते हैं लेकिन सम्यक् रूप से शिक्षित नहीं होते। ब्राह्मण परिवार में उत्पन्न मनुष्य को यदि ब्राह्मण के रूप में योग्यता प्राप्त नहीं है, तो वह द्विजबन्धु कहलाता है। ऐसे लोगों के लिए उन्होंने महाभारत का, जिसे भारत का इतिहास कहते हैं तथा अठारह पुराणों का संकलन किया। इस तरह सारे पुराण, महाभारत, चारों वेद तथा अनेक उपनिषद्-ये सब वैदिक साहित्य के अंश हैं। उपनिषद् वेदों के अंश हैं। तत्पश्चात् व्यासदेव ने विद्वानों तथा दार्शनिकों के लिए समस्त वैदिक ज्ञान का सार वेदांत सूत्र के रूप में प्रस्तुत किया। यह वेदों का अन्तिम वचन है।

व्यासदेव ने अपने गुरु महाराज नारद जी के आदेश से वेदान्त सूत्र की रचना की लेकिन फिर भी वे सन्तुष्ट नहीं हुए। यह एक लम्बी गाथा है, जिसका वर्णन श्रीमद्भागवत में हुआ है। व्यासदेव अनेक पुराणों तथा उपनिषदों का संकलन कर लेने के बाद और यहाँ तक कि वेदान्त सूत्र लिखने के बाद भी पूर्णतया सन्तुष्ट नहीं थे। तब उनके गुरु नारद जी ने आदेश दिया, "तुम वेदान्त की व्याख्या करो।" वेदान्त का अर्थ है चरम ज्ञान और चरम ज्ञान कृष्ण है। कृष्ण कहते हैं कि समस्त वेदों में मनुष्य को कृष्ण को ही जानना चाहिए। वेदान्त-कृद् वेद विद् एव चाहम् । कृष्ण कहते हैं, "मैं वेदान्त का संकलनकर्ता हूँ और वेदों का ज्ञाता भी मैं ही हूँ।" अतएव चरम लक्ष्य तो कृष्ण हैं। वेदान्त दर्शन के समस्त वैष्णव भाष्यों में इसकी व्याख्या की गई है। हम गौड़ीय वैष्णवों का वेदान्त-दर्शन पर हमारा अपना भाष्य है, जो गोविन्द भाष्य कहलाता है और बलदेव विद्याभूषण द्वारा प्रणीत है। इसी प्रकार रामानुजाचार्य कृत भाष्य है और मध्वाचार्य का भी भाष्य है। शंकराचार्य का भाष्य ही एकमात्र भाष्य नहीं है। वैसे तो वेदान्त के अनेक भाष्य हैं लेकिन चूँकि वैष्णवों ने वेदान्त भाष्य प्रथम प्रस्तुत नहीं किया अतएव लोगों में यह भ्रम बना हुआ है कि शंकराचार्य द्वारा लिखित वेदान्त भाष्य ही एकमात्र भाष्य है। इसके अतिरिक्त स्वयं वेदव्यास ने पूर्ण वेदान्त भाष्य श्रीमद्भागवत-लिखा है। श्रीमद्भागवत भी वेदान्त सूत्र के प्रथम वाक्य से प्रारम्भ होता है-जन्माध्यस्य यत: । इस जन्माध्यस्य यतः की पूर्ण विवेचना श्रीमद्भागवत में हुई है। वेदान्त सूत्र केवल इतना ही इंगित करता है कि परम सत्य या ब्रह्म क्या है, "परम सत्य वह है, जिससे प्रत्येक वस्तु उद्भूत है। यह सारांश है, किन्तु श्रीमद्भागवत में इसकी विशद् व्याख्या है। यदि प्रत्येक वस्तु परम सत्य से उद्भूत है, तो उस परम सत्य की प्रकृति क्या है ? इसकी व्याख्या श्रीमद्भागवत में की हुई है। परम सत्य को चेतना (भावनामृत) स्वरूप होना चाहिए। वे स्वराट् (स्वतः तेजमान) हैं | हम अन्यों से ज्ञान प्राप्त करके अपनी चेतना तथा ज्ञान को विकसित करते हैं लेकिन भगवान के लिए कहा गया है कि वे स्वराट् हैं । वैदिक ज्ञान का सम्पूर्ण सार वेदान्त सूत्र है और इस वेदान्त सूत्र की व्याख्या लेखक ने स्वयं ही श्रीमद्भागवत में की है। अन्त में हमारा निवेदन है कि जो लोग वैदिक ज्ञान की व्याख्या समझना चाहते हैं, वे उसे श्रीमद् भागवत तथा भगवद्गीता से समझने का प्रयास करें। ■

ईश-स्तुति

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

ॐ-पूर्ण; पूर्णम्-सभी तरह से पूर्ण; अदः-वह; पूर्णम् -पूर्ण; इदम्-- यह व्यवहार (दृश्य) जगत; पूर्णात्- पूर्ण से; पूर्णम् - पूर्ण इकाई; उदच्यते- उत्पन्न होता है; पूर्णस्य-पूर्ण का; पूर्णम् - पूर्णत:, सब ; आदाय- लेने पर; पूर्णम् -पूर्ण संतुलन; एव-ही; अवशिष्यते-बचा रहता है।

अनुवाद

भगवान पूर्ण हैं और चूँकि वे पूरी तरह परिपूर्ण हैं, अतएव उनके सारे उद्भव तथा यह व्यवहार जगत, पूर्ण के रूप में परिपूर्ण हैं। पूर्ण से जो कुछ उत्पन्न होता है, वह भी अपने में पूर्ण होता है । चूँकि वे सम्पूर्ण हैं, अतएव उनसे यद्यपि न जाने कितनी पूर्ण इकाइयाँ उद्‌भूत होती हैं, तो भी वे पूर्ण रहते हैं।

तात्पर्य

पूर्ण या परम सत्य पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान हैं। 'निर्विशेष ब्रह्म' या परमात्मा' की अनुभूति परम पूर्ण की अधूरी अनुभूति है। पूर्ण परमेश्वर भगवान तो सच्चिदानन्द विग्रह हैं और 'निर्विशेष ब्रह्म' की अनुभूति उनके सत् स्वरूप या उनके शाश्वत स्वरूप की अनुभूति है तथा ‘परमात्मा' की अनुभूति उनके सत् तथा चित् स्वरूपों की अनुभूति है। किन्तु भगवान् की अनुभूति सारे दिव्य स्वरूपों-सत्, चित तथा आनन्द की अनुभूति है। जब किसी को परम पुरुष की अनुभूति हो जाती है, तो वह परम सत्य के इन स्वरूपों को पूर्ण रूप में अनुभव करता है। विग्रह का अर्थ है रूप। इस प्रकार परम सत्य (पूर्ण) रूपविहीन (निराकार) नहीं है। यदि वह रूपविहीन होता या वह अपनी सृष्टि की अपेक्षा किसी भी तरह कम होता, तो वह पूर्ण नहीं हो सकता था। परम पूर्ण में हमारे अनुभव के भीतर तथा बाहर की प्रत्येक वस्तु होनी चाहिए अन्यथा वह पूर्ण नहीं हो सकता।

परम पूर्ण भगवान में अनन्त शक्तियाँ होती हैं और वे सब की सब उन्हीं के समान पूर्ण हैं। इस तरह यह दृश्य भौतिक जगत भी अपने में पूर्ण है। ये चौबीस तत्त्व जिनका यह भौतिक ब्रह्माण्ड अस्थायी प्राकट्य है, इस तरह व्यवस्थित हैं कि इस ब्रह्माण्ड के पालन तथा भरण के लिए आवश्यक प्रत्येक वस्तु उत्पन्न कर सकें। ब्रह्माण्ड का पालन करने के लिए

इसकी किसी अन्य इकाई को बाह्य प्रयास करने की आवश्यकता नहीं है। ब्रह्माण्ड अपने निजी काल-माप के अनुसार कार्य करता है जो पूर्ण की शक्ति द्वारा व्यवस्थित किया गया है और जब वह कालावधि पूरी हो जाती है, तो यह अस्थिर अभिव्यक्ति सम्पूर्ण की पूर्ण व्यवस्था से विनष्ट हो जाती है।

छोटी पूर्ण इकाइयों (जीवों) को सारी सुविधाएँ प्रदान को जाती हैं जिससे वे उस सम्पूर्ण की अनुभूति कर सकें। सम्पूर्ण के अधूरे ज्ञान के कारण ही अपूर्णता के सारे रूपों का अनुभव होता है। मनुष्य जीवन जीव की चेतना का पूर्ण प्राकट्य है और यह चेतना जन्म और मृत्यु के चक्र में चौरासी लाख योनियों से विकसित होने के बाद मिलती है। यदि जीव अपनी पूर्ण चेतना युक्त इस मानव जीवन में, सम्पूर्ण से सम्बन्धित अपनी पूर्णता की अनुभूति नहीं करता तो वह पूर्णता की अनुभूति करने का अवसर खो देता है और भौतिक प्रकृति के नियम द्वारा पुन: विकास-चक्र में डाल दिया जाता है।

चूँकि हम यह नहीं जानते कि हमारे पालन के लिए प्रकृति में पूर्ण व्यवस्था है अतएव हम इन्द्रियभोग के तथाकथित पूर्ण जीवन की सृष्टि करने के लिए प्रकृति के साधनों का उपयोग करने का प्रयास करते हैं। चूँकि जीव सम्पूर्ण से सम्बद्ध हुए बिना इन्द्रिय-जीवन का भोग नहीं कर सकता, अतएव इन्द्रियभोग का भ्रमयुक्त जीवन मोह माना जाता है। शरीर का हाथ तभी तक पूर्ण इकाई है जब तक वह सम्पूर्ण शरीर से संलग्न रहता है। जब हाथ को शरीर से काटकर अलग कर दिया जाता है, तो वह हाथ की तरह प्रतीत तो होता है लेकिन वस्तुत: उसमें हाथ की एक भी शक्ति नहीं रहती। इसी प्रकार सारे जीव सम्पूर्ण के अंश हैं और यदि उन्हें उस सम्पूर्ण से पृथक् कर दिया जाए तो पूर्णता की भ्रामक अभिव्यक्ति उन्हें पूर्णतया तुष्ट नहीं कर सकती।

मनुष्य जीवन को पूर्णता की अनुभूति तभी हो सकती है जब वह उस सम्पूर्ण की सेवा में लग जाए। इस संसार की सारी सेवाएँ, चाहे वे सामाजिक, राजनैतिक, साम्प्रदायिक, अन्तर्राष्ट्रीय हों या अन्तर्ग्रहीय भी हों, तब तक अपूर्ण बनी रहेंगी जब तक उन्हें सम्पूर्ण के साथ संबंध न कर दिया जाए। जब प्रत्येक वस्तु सम्पूर्ण से जुड़ जाती है, तो उससे संलग्न सारे अंश भी अपने में पूर्ण हो जाते हैं। ■

मंत्र १

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद् धनम्॥१॥

ईश-भगवान्; आवास्यम्-नियंत्रित; इदम्-यह; सर्वम्-सम्पूर्ण; यत् किञ्च-जो भी; जगत्याम्-ब्रह्माण्ड के भीतर; जगत्-जड़-चेतन, सब कुछ; तेन-उसके द्वारा; त्यक्तेन-पृथक् रखा गया भाग; भुञ्जीथाः—तुम्हें स्वीकार करना चाहिए; मा-नहीं; गृधः-प्राप्त करने का प्रयास; कस्य स्विद्-अन्य किसी की; धनम्- सम्पत्ति को।

अनुवाद

इस ब्रह्माण्ड के भीतर की प्रत्येक जड़ अथवा चेतन वस्तु भगवान् द्वारा नियंत्रित है और उन्हीं की सम्पत्ति है। अतएव मनुष्य को चाहिए कि अपने लिए केवल उन्हीं वस्तुओं को अपनाये जो उसके लिए आवश्यक हैं और जो उसके भाग के रूप में नियत कर दी गई हैं। मनुष्य को यह भलीभाँति जानते हुए कि अन्य वस्तुएँ किसकी हैं, उन्हें स्वीकार नहीं करना चाहिए।

तात्पर्य

वैदिक ज्ञान अमोघ है क्योंकि यह साक्षात भगवान् से प्रारम्भ होने वाली गुरु-शिष्य की पूर्ण परम्परा से होकर आगे चलता आता है। चूँकि वैदिक ज्ञान का पहला शब्द भगवान् द्वारा उच्चारित हुआ था अत: इस ज्ञान का स्रोत दिव्य है। भगवान् द्वारा उच्चारित शब्द अपौरुषेय कहलाते हैं, जो इस बात का संकेत है कि ये शब्द किसी संसारी पुरुष द्वारा नहीं कहे गये । भौतिक संसार में रहने वाले जीव में चार दोष होते हैं- (१) वह निश्चित रूप से त्रुटि करता है; (२) वह मोहग्रस्त होता है; (३) उसमें दूसरों को धोखा देने की प्रवृत्ति पाई जाती है; तथा (४) उसकी इन्द्रियाँ अपूर्ण हैं। इन चार अपूर्णताओं से युक्त मनुष्य पूर्ण ज्ञान की जानकारी नहीं दे सकता। वेद ऐसे अपूर्ण प्राणी द्वारा तैयार नहीं हुए थे। वैदिक ज्ञान सर्वप्रथम भगवान् द्वारा आदि-जीव ब्रह्मा के हृदय में प्रदान किया गया और ब्रह्मा ने इस ज्ञान को आगे अपने पुत्रों तथा शिष्यों में प्रसारित किया जो इस ज्ञान को अनादि काल से हस्तान्तरित करते चले आ रहे हैं।

चूँकि भगवान् पूर्णम्-सब प्रकार से पूर्ण हैं, अतएव उन पर भौतिक प्रकृति के नियम लागू होने की संभावना नहीं है क्योंकि वे उनके नियंत्रण में रहते हैं; लेकिन जीव तथा जड पदार्थ प्रकृति के नियमों द्वारा और अनन्तिम रूप से भगवान् की शक्ति द्वारा नियंत्रित होते हैं। यह ईशोपनिषद् यजुर्वेद का अंश है; फलस्वरूप इसमें इस ब्रह्माण्ड में स्थित समस्त वस्तुओं के स्वामित्व के विषय में जानकारी मिलती है ।

इस ब्रह्माण्ड की प्रत्येक वस्तु पर भगवान् के स्वामित्व की पुष्टि भगवद्गीता के सातवें अध्याय में हुई है, जिसमें परा तथा अपरा प्रकृति की विवेचना की गई है (७.४-५)। प्रकृति के सब तत्व-पृथ्वी, अग्नि, जल, वायु, आकाश, मन, बुद्धि तथा अहंकार- भगवान् की अपरा अर्थात् भौतिक प्रकृति से सम्बन्धित हैं जबकि जीव अर्थात् चेतन शक्ति परा प्रकृति है। ये दोनों ही प्रकृतियाँ या शक्तियां भगवान् से उद्‌भूत हैं। अन्ततोगत्वा, जो कुछ विद्यमान है उस सब के नियंता भगवान् ही हैं। ब्रह्माण्ड में ऐसी कोई वस्तु नहीं जिसका सम्बन्ध परा या अपरा प्रकृति से न हो; इसलिए प्रत्येक वस्तु उस परम पुरुष की सम्पत्ति है।

परम पुरुष अर्थात भगवान् एक पूर्ण पुरुष हैं; उनके पास अपनी विभिन्न शक्तियों के द्वारा हर वस्तु को सम्मिलित करने की पूर्ण बुद्धि है। परम पुरुष की तुलना बहुधा अग्नि से की जाती है और प्रत्येक जड़ तथा चेतन वस्तु की तुलना अग्नि के ताप तथा प्रकाश से की जाती है। अग्नि जिस प्रकार ताप तथा प्रकाश के रूप में अपनी शक्ति का वितरण करती है उसी प्रकार भगवान् भी विभिन्न प्रकारों से अपनी शक्ति का प्रदर्शन करते हैं। इस प्रकार के अनन्तिम नियन्ता, सभी वस्तुओं के पालक तथा आदेशक हैं। वे सभी शक्तियों के स्वामी, प्रत्येक वस्तु के परम ज्ञाता तथा हर एक का उपकार करने वाले हैं। वे अचिन्त्य ऐश्वर्य, बल, यश, सौंदर्य, ज्ञान तथा वैराग्य से परिपूर्ण हैं।

अतएव मनुष्य को इतना तो बुद्धिमान होना ही चाहिए कि वह यह जान ले कि भगवान् के अतिरिक्त अन्य कोई किसी वस्तु का स्वामी नहीं है। मनुष्य को केवल वे ही वस्तुएँ अपनानी चाहिए जो भगवान् ने उसके लिए नियत कर दी है। उदाहरणार्थ, गाय दूध तो देती है, किन्तु वह उस दूध को पीती नहीं; वह घास तथा भूसा खाती है और उसका दूध मनुष्यों का भोजन कहलाता है। ऐसी है व्यवस्था भगवान् की। अत: हमें उन्हीं वस्तुओं से संतुष्ट रहना चाहिए जिन्हें उन्होंने हमारे लिए नियत कर दिया है और हमें सदैव स्मरण रखना चाहिए कि हमारे पास जो वस्तुएँ हैं, वे वास्तव में किसकी है। उदाहरणार्थ, हमारा घर मिट्टी, लकड़ी, पत्थर, लोहा, सीमेंट तथा अन्य अनेक भौतिक वस्तुओं से बना होता है और यदि हम श्री ईशोपनिषद् के अनुसार विचार करें तो हमें यह जान लेना चाहिए कि हम इन निर्माणार्थ पदार्थों में से किसी एक को भी उत्पन्न नहीं कर सकते। हम उन्हें केवल इकट्ठा कर सकते हैं और अपने श्रम से उन्हें विभिन्न रूपाकार दे सकते हैं। कोई श्रमिक अपने को किसी वस्तु का

स्वामी केवल इसलिए नहीं कह सकता क्योंकि उसने उसे तैयार करने में कठिन श्रम किया है।

आधुनिक समाज में श्रमिकों तथा पूँजीपतियों में सदैव एक बड़ा झगड़ा चलता रहता है। इस झगड़े ने अन्तर्राष्ट्रीय रूप धारण कर लिया है और विश्व संकट में है। मनुष्य एक दूसरे से शत्रुता बरतते हैं और कुत्ते-बिल्लियों की तरह गुर्राते हैं। श्री ईशोपनिषद् कुत्ते-बिल्लियों को उपदेश नहीं दे सकती, लेकिन यह मनुष्य को प्रामाणिक आचार्यों के माध्यम से ईश्वर का सन्देश प्रदान कर सकती है। मानव जाति को चाहिए कि श्रीईशोपनिषद के इस वैदिक ज्ञान को ग्रहण करें और भौतिक स्वामित्व के लिए न झगड़े। मनुष्य को भगवान् की कृपा से जो भी सुविधाएँ प्राप्त हुई हैं उन्हीं से सन्तुष्ट रहना चाहिए। यदि साम्यवादी या पूँजीपति या कोई अन्य दल प्राकृतिक संसाधनों पर स्वामित्व जताता है, तो शान्ति स्थापित नहीं हो सकती क्योंकि ये सब भगवान् की सम्पत्ति हैं। न तो पूँजीपति साम्यवादियों को केवल राजनीतिक चालों से दबा सकते हैं न ही साम्यवादी पूँजीपतियों को केवल चुराई हुई रोटी के लिए लड़कर उन्हें हरा सकते हैं। यदि पूंजीपति भगवान् के स्वामित्व को मान्यता प्रदान नहीं करते तो वह सारी सम्पत्ति जिसे वे अपनी होने का दावा करते हैं, चुराई हुई है; फलस्वरूप उन्हें प्रकृति के नियमों के अनुसार दण्डित होना पड़ेगा। नाभिकीय बम साम्यवादियों तथा पूँजीपतियों दोनों के ही पास हैं। और यदि ये दोनों परमेश्वर के स्वामित्व को नहीं मानते तो यह निश्चित है कि ये बम अन्ततोगत्वा दोनों पक्षों का विनाश कर देंगे। अतएव अपने आपको बचाने तथा विश्व में शान्ति लाने के लिए दोनों पक्षों को श्री ईशोपनिषद् के उपदेशों का अनुसरण करना चाहिए।

मनुष्य कुत्ते-बिल्लियों की तरह लड़ने-झगड़ने के निमित्त नहीं बने हैं। उसे मानव जीवन की महत्ता एवं उद्देश्य का समझने के लिए तो बुद्धिमान होना ही चाहिए। वैदिक साहित्य मानवता के लिए है, न कि कुत्ते-बिल्लियों के लिए। कुत्ते बिल्लियाँ अपने भोजन के लिए किसी पाप के भागी बने बिना अन्य पशुओं का वध कर सकते हैं, किन्तु यदि कोई मनुष्य अपने अनियंत्रित स्वाद की तुष्टि के लिए किसी पशु का वध करता है, तो वह प्रकृति के नियमों को तोड़ने के लिए उत्तरदायी होता है। फलस्वरूप उसे दंडित होना पड़ेगा।

मनुष्यों का जीवन मानक पशुओं पर लागू नहीं किये जा सकते। बाघ न तो चावल या गेहूँ खाता है, न गाय का दूध पीता है क्योंकि उसे पशु मांस के रूप में भोजन प्रदान किया गया है। अनेक पशुओं तथा पक्षियों में से कुछ तो शाकाहारी हैं और अन्य मांसाहारी, लेकिन इनमें से कोई एक भी प्रकृति के नियमों का उल्लंघन नहीं करता, क्योंकि ये नियम भगवान् की इच्छानुसार बने हैं। पशु, पक्षी, सरीसृप तथा अन्य निम्न योनि वाले जीव प्रकृति के नियमों का कड़ाई से पालन करते हैं; अतएव न तो उनके लिए पाप का प्रश्न उठता है, न ही वैधानिक उपदेश उनके लिए बने हैं। एकमात्र मानव जीवन ही उत्तरदायित्व का जीवन है।

यह मानना गलत है कि केवल शाकाहारी बनकर कोई प्रकृति के नियमों के उल्लंघन से अपने को बचा सकता है। शाक (वनस्पति) में भी जीवन होता है। यह प्रकृति का नियम है कि एक जीव दूसरे के खाने के लिए है। अतएव मनुष्य को कट्टर शाकाहारी बनने का गर्व नहीं होना चाहिए। बात तो परमेश्वर को मान्यता प्रदान करने की है। पशुओं के पास इतनी विकसित बुद्धि नहीं होती जिससे वे भगवान् को पहचान सकें, किन्तु मनुष्य इतना बुद्धिमान तो होता ही है कि वह वैदिक ग्रंथों से शिक्षा ग्रहण कर सके और उनसे यह जान सके कि प्रकृति नियम किस तरह कार्य करते हैं और इस तरह ऐसे ज्ञान से लाभ उठा सके। यदि मनुष्य वैदिक ग्रंथों के उपदेशों की उपेक्षा करता है, तो उसका जीवन अत्यन्त संकटपूर्ण हो जाता है। अतएव मनुष्य को परमेश्वर की सत्ता को पहचानने और भगवान् का भक्त हो जाने की आवश्यकता है। उसे हर वस्तु भगवान् की सेवा में अर्पित कर देनी चाहिए और अर्पित किए गए भोजन का बचा हुआ भाग ही ग्रहण करना चाहिए। इससे वह अपने कर्तव्य को भलीभाँति निबाह सकेगा। भगवद्गीता में (९.२६) भगवान् प्रत्यक्ष रूप से कहते हैं कि वे शुद्ध भक्त के हाथों से शाकाहारी भोजन ग्रहण करते हैं। अतएव मनुष्य को न केवल कट्टर शाकाहारी बनना चाहिए अपितु भगवद्भक्त भी होना चाहिए और सारा भोजन भगवान् को अर्पित कर देना चाहिए। तत्पश्चात् केवल प्रसाद अथवा भगवान् की कृपा ग्रहण करनी चाहिए। केवल वही लोग जो इस तरह से कार्य करते हैं मनुष्य जीवन के कर्तव्य को भलीभाँति निबाह सकते हैं। जो लोग भगवान् को अपना भोजन अर्पित नहीं करते, वे वस्तुत: पाप खाते हैं और विभिन्न प्रकार के दुख भोगते हैं, जो पाप के फल होते हैं। (भगवद् गीता (३.१३)

भगवान् के स्वामित्व की अवमानना करके प्रकृति के नियमों का जानबूझ कर उल्लंघन करना ही पाप की जड़ है। प्रकृति के नियमों या भगवान् के आदेशों का उल्लंघन करने से मानव का विनाश होता है। इसके विपरीत जो मनुष्य सौम्य है, प्रकृति के नियमों को जानता है और व्यर्थ के राग या द्वेष से प्रभावित नहीं होता, उसे अवश्य ही भगवान् अपनाते हैं और वह इस तरह भगवद्धाम अर्थात शाश्वत धाम जाने का अधिकारी हो जाता है। ■

मंत्र २

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छता: समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥२॥

कुर्वन्-निरंतर करते हुए; एव-इस प्रकार; इह-इस जीवन काल में; कर्माणि-कर्म; जिजीविषेत्-जीने की इच्छा करे; शतम्-एक सौ; समा:-वर्ष; एवम्-इस तरह रहते हुए; त्वयि-तुमको; न-नहीं; अन्यथा-दूसरा, वैकल्पिक; इत:-इस पथ से; अस्ति-है; न-नहीं; कर्म- कर्म; लिप्यते-बाँधता है; नरे–मनुष्य को।

अनुवाद

यदि मनुष्य इस प्रकार निरन्तर कार्य करता रहे तो वह सौ वर्षों तक जीने की आकांक्षा कर सकता है क्योंकि इस प्रकार का कर्म उसे कर्म के नियम से नहीं बाँधेगा। मनुष्य के लिए इसके अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग नहीं है।

तात्पर्य

कोई भी मरना नहीं चाहता। प्रत्येक व्यक्ति जब तक खींच सकता है तब तक जीना चाहता है। यह प्रवृत्ति केवल व्यष्टिक रूप से ही नहीं देखी जाती अपितु सामूहिक रूप से जाति, समाज और राष्ट्र में भी देखी जाती है। समस्त जीवों में विकट जीवन-संघर्ष चल रहा होता है और वेदों का कहना है कि यह बिल्कुल स्वाभाविक है। जीवात्मा स्वभावत: शाश्वत है, लेकिन भौतिक जगत में अपने बंधन के कारण उसे बारम्बार अपना शरीर बदलना पड़ता है। यह प्रक्रिया आत्मा का देहान्तरण अथवा कर्मबन्धन कहलाती है। जीव को अपनी आजीविका के लिए कार्य करना पड़ता है क्योंकि यह प्रकृति का नियम है और यदि वह अपने नियत कर्तव्यों के अनुसार कार्य नहीं करता तो वह प्रकृति के नियम का उल्लंघन करता है और अपने आपको अनेक योनियों में जन्म-मृत्यु के चक्र में आधिकाधिक बाँधता जाता है।

अन्य योनियों में भी जन्म-मृत्यु का चक्र चलता है, लेकिन जब जीव को मनुष्य-योनि प्राप्त होती है, तो वह कर्म के बंधन से मुक्त होने का अवसर प्राप्त करता है। भगवद्गीता में कर्म, अकर्म तथा विकर्म का अत्यन्त स्पष्ट वर्णन हुआ है। जो कार्य किसी के नियत कर्तव्यों के रूप में शास्त्रों में उल्लिखित विधि से सम्पन्न किए जाते हैं, वे कर्म कहलाते हैं। जो कर्म मनुष्य को जन्म-मृत्यु के चक्र से मुक्त करते हैं, वे अकर्म कहलाते हैं। किन्तु जो कार्य अपनी स्वतंत्रता का दुरुपयोग करके सम्पन्न किये जाते हैं और जिससे अधम योनियों में जाना पड़ता है वे

विकर्म कहलाते हैं। इन तीन प्रकार के कर्मों में से बुद्धिमान मनुष्य उसे ही अच्छा समझता है, जो उसे कर्म के बन्धन से मुक्त कर दे। सामान्य लोग मान्यता प्राप्त करने के उद्देश्य से तथा इस संसार में या स्वर्ग में उच्चतर जीवन स्तर प्राप्त करने के उद्देश्य से अच्छा कार्य करते हैं लेकिन अधिक बुद्धिमान लोग कर्म तथा कर्म के फल से सर्वथा मुक्त होना चाहते हैं। बुद्धिमान पुरुष यह भलीभाँति जानते हैं कि अच्छे से या बुरे कार्य समान रूप मनुष्य के भौतिक कष्टों से बाँधने वाले हैं। अतएव वे ऐसा कार्य खोजते हैं, जो उन्हें अच्छे या बुरे दोनों ही प्रकार के कार्य के फलों से मुक्त कर दे। श्री ईशोपनिषद् के पृष्ठों में इसी मुक्ति प्रदान करने वाले कार्य का वर्णन हुआ है।

श्री ईशोपनिषद् के उपदेश भगवद्गीता में विशद् रीति से व्याख्यायित किये गये हैं, अतएव भगवद्गीता को कभी-कभी गीतोपनिषद् या सभी उपनिषदों का नवनीत कहा जाता है। भगवद्गीता में (३.९-१६) भगवान् कहते हैं कि मनुष्य को तब तक नैष्कर्म्य या अकर्म अवस्था प्राप्त नहीं होती जब तक वह वैदिक साहित्य में वर्णित नियत कर्तव्यों (स्वधर्म) का आचरण नहीं करता। वेद मनुष्य की कार्यशक्ति को इस प्रकार नियमित कर सकते हैं कि वह धीरे धीरे भगवान् की सत्ता का अनुभव करने लगता है। जब वह भगवान्–वासुदेव अथवा कृष्ण-की सत्ता का अनुभव कर लेता है, तो यह समझना चाहिए कि उसने सकारात्मक ज्ञान की अवस्था प्राप्त कर ली है | इस शुद्ध अवस्था में प्रकृति के गुण-सतो, रजो तथा तमो गुण-कार्य नहीं कर पाते और उसमें नैष्कर्म्य के आधार पर कर्म करने की क्षमता आ जाती है। ऐसा कर्म मनुष्य को जन्म तथा मृत्यु के चक्र से नहीं बाँधता।

वास्तव में किसी को भी भगवान् की भक्ति से अधिक कुछ नहीं करना होता। परन्तु जीवन के निम्न स्तर पर कोई भी व्यक्ति भक्ति के कार्यकलाप तुरन्त नहीं अपना सकता, न ही वह सकाम कर्म को पूरी तरह रोक सकता है। बद्ध जीव इन्द्रियतृप्ति के लिए अपने स्वार्थ के लिए, चाहे वह तात्कालिक हो या व्यापाक-कर्म करने का आदी होता है। सामान्य व्यक्ति अपने निजी इन्द्रियभोग के लिए कार्य करता है और जब इन्द्रियभोग का यह सिद्धान्त समाज, राष्ट्र या मानवता तक विस्तारित हो जाता है, तो यह अनेक आकर्षक नाम धारण कर लेता है, यथा परोपकार, समाजवाद, साम्यवाद, राष्ट्रवाद, मानवतावाद इत्यादि। ये 'वाद' निश्चय ही कर्म-बन्धन के अत्यन्त आकर्षक रूप हैं, लेकिन ईशोपनिषद् की वैदिक शिक्षा है कि यदि कोई सचमुच इनमें से किसी 'वाद' के लिए जीवित रहना चाहता है, तो उसे चाहिए कि वह उन्हें ईश-केन्द्रित कर दे। गृहस्थ बनने या परोपकारी, समाजवादी, साम्यवादी, राष्ट्रवादी या मानवतावादी बनने में कोई हानि नहीं है, बशर्ते कि वह अपने कार्यों को ईशावास्य या भगवत्-केन्द्रित भावना से सम्पन्न करे।

भगवद्गीता (२.४०) में भगवान् कृष्ण का कथन है कि भगवत्-केन्द्रित कार्य इतने महत्त्वपूर्ण हैं कि उनमें से कुछेक भी मनुष्य को बड़े से बड़े भय से बचा सकते हैं। जीवन का सबसे बड़ा भय यही है कि वह ८४,००,००० योनियों में जन्म-मृत्यु के विकास-चक्र के खतरे में पुन: न गिर जाए। यदि किसी भी तरह मनुष्य अपने इस मानव योनि द्वारा प्रदत्त आध्यात्मिक अवसर को खो देता है और पुन: विकास-चक्र में गिर जाता है, तो इसे उसका महान् दुर्भाग्य समझना चाहिए। मुर्ख मनुष्य अपनी दोषपूर्ण इन्द्रियों से यह नहीं देख पाता कि ऐसा हो रहा है फलस्वरूप श्री ईशोपनिषद् हमें सलाह देती है कि हम अपनी शक्ति ईशावास्य रूपी भावना में लगाएँ। इस भावना में लगकर हम अनेकानेक वर्षों तक जीवित रहने की आकांक्षा कर सकते हैं; अन्यथा दीर्घ जीवन का अपने आप में कोई महत्त्व नहीं है एक वृक्ष कई सौ वर्षों तक जीवित रहता है, लेकिन वृक्ष की तरह दीर्घकाल तक जीवित रहकर धौकंनी की तरह साँस लेते रहने या कुत्तों और सूअरों की तरह सन्तान उत्पन्न करने या ऊँट की तरह खाते रहने में कोई तुक नहीं है। विनीत भगवद्-केन्द्रित जीवन ईश्वर-रहित परोपकार या समाजवाद से युक्त विचार पाखण्ड से कहीं अच्छा है।

जब श्री ईशोपनिषद् की भावना से परोपकारी कार्य किए जाते हैं, तो वे एक प्रकार के कर्म योग बन जाते हैं। ऐसे कर्मों की संस्तुति भगवत गीता में (१८.५-९) की गई है क्योंकि उनसे उनके कर्ता को जन्म-मृत्यु के विकास चक्र में गिरने के भय से सुरक्षा की गारंटी प्राप्त होती है। इस प्रकार के भगवद् केन्द्रित कार्यकलाप अधूरे रहने पर भी कर्ता के लिए शुभ होते हैं क्योंकि इससे अगले जन्म में उसे मनुष्य-योनि का मिलना सुनिश्चित हो जाता है। इस प्रकार मनुष्य को मुक्ति-मार्ग पर अपनी स्थिति सुधारने का एक और अवसर प्राप्त हो जाता है।

मनुष्य ईश-केंद्रित कार्य किस प्रकार कर सकता है। इसका विवरण श्रील रूप गोस्वामी कृत 'भक्तिरसामृतसिन्धु' में विस्तृत रूप से दिया गया है। यह ग्रन्थ हमने अंग्रेजी भाषा में *नेक्टर ऑफ डिवोशन* शीर्षक से प्रकाशित किया है। श्री ईशोपनिषद् की भावना के अनुसार कार्य करने के इच्छुक सबों को हम इस अमूल्य ग्रन्थ का लाभ उठाने का परामर्श देते हैं। ■

मंत्र ३

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः ।
ताँस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के आत्महनो जनाः ॥३॥

असुर्या-असुरों के निमित्त; नाम-नाम से प्रसिद्ध; ते-वे; लोकाः-लोक; अन्धेन-अज्ञान से; तमसा - अंधकार से; आवृताः-ढके हुए; तान्-उन लोकों को; ते-वे; प्रेत्य-मृत्यु के बाद; अभिगच्छन्ति-प्रवेश करते हैं; ये-जो कोई; के- हर एक; च-तथा; आत्महनः-आत्मा का हनन करने वाले; जनाः-व्यक्ति।

अनुवाद

आत्मा का हनन करने वाला, चाहे वह कोई भी हो, उन लोकों में अवश्य प्रवेश करता है, जो अश्रद्धा के जगत के नाम से विख्यात है और अंधकार तथा अज्ञान से पूर्ण है।

तात्पर्य

मनुष्य-जीवन अपने भारी उत्तरदायित्वों के कारण पशु जीवन से भिन्न होता है। जो लोग इन दायित्वों से अवगत हैं और उसी भाव से कार्य करते हैं, वे सुर कहलाते हैं और जो इन दायित्वों की अवहेलना करते हैं या जिन्हें इनकी जानकारी नहीं रहती वे असुर कहलाते हैं। सारे विश्व में यही दो प्रकार के मनुष्य पाए जाते हैं। ऋग्वेद में कहा गया है कि सुर लोग सदैव भगवान् विष्णु के चरणकमलों को लक्ष्य बनाते हैं और तदनुसार कर्म करते हैं। उनका मार्ग सूर्य के पथ के ही समान देदीप्यमान रहता है।

बुद्धिमान मनुष्यों को सदैव स्मरण रखना चाहिए कि आत्मा को मानव शरीर देहान्तरण के चक्र में लाखों वर्षों के विकास के पश्चात् प्राप्त होता है। कभी-कभी इस भौतिक जगत की तुलना एक समुद्र से की जाती है और इस मानव शरीर की तुलना एक सुदृढ़ नाव से की जाती है, जो इस समुद्र को पार करने के लिए विशेष रूप से निर्मित की गई है। वैदिक शास्त्रों तथा आचार्यों की तुलना पटु नाविकों से की जाती है और मानव शरीर की सुविधाओं की तुलना अनुकूल मन्द समीर से की जाती है, जो नाव को सरलता से इच्छित लक्ष्य तक ले जाने में सहायक होती है। यदि इन समस्त सुविधाओं के होते हुए भी कोई मनुष्य अपने जीवन का पूर्ण उपयोग आत्म-साक्षात्कार के लिए नहीं कर पाता तो उसे आत्महा अर्थात् आत्मा का हनन करने वाला समझना चाहिए। श्री ईशोपनिषद् स्पष्ट रूप से चेतावनी देती है कि आत्मा का हत्यारा सदा दुख भोगने के लिए विज्ञान के गहनतम अंधकार में प्रवेश करना निश्चित है।

यद्यपि शूकर, कूकर, ऊँट, गधा इत्यादि की आर्थिक आवश्यकताएँ हमारी आवश्यकताओं जैसी ही महत्त्वपूर्ण हैं, लेकिन इन पशुओं की आर्थिक समस्याएँ अत्यंत निकृष्ट तथा अरुचिकर परिस्थितियों में हल की जाती है। मनुष्य को प्रकृति के नियमों द्वारा सुखपूर्वक जीवन-यापन के लिए सारी सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं क्योंकि मानव जीवन पशु-जीवन की तुलना में अधिक महत्त्वपूर्ण तथा मूल्यवान है। तो मनुष्य को शूकर तथा अन्य पशुओं की अपेक्षा श्रेष्ठतर जीवन क्यों प्राप्त है ? एक उच्च पद वाले सरकारी कर्मिक को एक सामान्य क्लर्क की अपेक्षा बेहतर सुविधाएँ क्यों प्राप्त हैं ? इसका उत्तर यह है कि उच्च पदाधिकारी को उच्च कोटि के कर्तव्य निबाहने होते हैं। इसी प्रकार मनुष्य को पशुओं की अपेक्षा उच्चतर कर्तव्यों का पालन करना होता है, जबकि पशु सदैव अपना भूखा पेट भरने मात्रा में लगे रहते हैं। तिस पर भी आधुनिक आत्माघातिनी सभ्यता से भूखे लोगों की समस्याओं में वृद्धि ही हुई है। जब हम किसी आधुनिक सभ्य मनुष्य रूपी सजे धजे पशु के पास पहुँचते हैं और उससे आत्म-साक्षात्कार में रुचि लेने के लिए कहते हैं, तो वह इतना ही कहना चाहेगा कि वह अपने पेट की क्षुधा-शान्ति के लिए काम करना चाहता है और एक भूखे मनुष्य को आत्म-साक्षात्कार की कोई आवश्यकता नहीं है। किन्तु प्रकृति के नियम इतने क्रूर है कि पेट-पालन के लिए कठोर श्रम करने के लिए उत्सुक रहने पर और आत्म-साक्षात्कार की आवश्यकता की भर्त्सना करने पर भी उसे बेरोजगारी का प्रश्न सदैव भयभीत किये रहता है।

हमें यह मनुष्य-शरीर गधों, शूकरों तथा कुत्तों के समान कठोर श्रम करने के लिए नहीं मिला अपितु जीवन की सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त करने के निमित्त मिला है। यदि हम आत्मा साक्षात्कार की परवाह नहीं करते तो भी प्रकृति के नियम हमें अत्यन्त कठोर श्रम करने के लिए बाध्य करते हैं, भले ही हम ऐसा न करना चाहें। इस युग में मनुष्य को गधों और गाडी खेंचने वाले बैलों की तरह कठोर श्रम करने के लिए बाध्य किया गया है। जिन भू-भागों में इन असुरों को काम करने के लिए भेज दिया जाता है उनका उद्घाटन श्री ईशोपनिषद् के इस मंत्र में किया गया है। यदि मनुष्य अपना कर्तव्य निबाहने में असफल रहता है, तो उसे *असुर्य* लोक में भेज दिया जाता है जहाँ उसे निम्न योनियों में जन्म लेकर अज्ञान तथा अंधकार में कठिन श्रम करने के लिए बाध्य किया जाता है।

भगवद्गीता में (६.४१-४३) कहा गया है कि जो मनुष्य आत्म-साक्षात्कार के पथ पर चलकर भगवान् के साथ अपने सम्बन्ध को समझने का भरसक प्रयत्न करके भी उसे पूरा नहीं समझ पाता उसे शुचि या श्रीमत् परिवार में जन्म लेने का अवसर दिया जाता है। शुचि शब्द आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नत ब्राह्मण का सूचक है और श्रीमत् वैश्य या व्यापारी जाति का सूचक है। इससे सूचित होता है कि जो व्यक्ति आत्म साक्षात्कार पाने में सफल नहीं होता, उसे इस जन्म में किए गए सत्य प्रयासों के कारण अगले जन्म में अवसर प्रदान किया जाता है। यदि पतित व्यक्ति को सम्मानित तथा उच्च कुल में जन्म लेने का अवसर प्रदान किया

जाता है, तो सफल व्यक्ति है को कौन-सा पद मिलेगा, इसकी कल्पना करना कठिन है । भगवत साक्षात्कार करने के प्रयास मात्र से मनुष्य को धनी या उच्च परिवार में जन्म मिलने का आश्वासन प्राप्त हो जाता है। किन्तु जो प्रयास ही नहीं करता, जो मोह से प्रच्छन्न बना रहना चाहता है, जो अत्यधिक भौतिकवादी है और भौतिक भोग में आसक्त है उसे नरक के गहनतम भागों में प्रवेश करना पड़ता है, जैसी कि सारे वैदिक साहित्य में पुष्टि की गई है। ऐसे भौतिकवादी असुर कभी-कभी धर्म का स्वाँग करते हैं, किन्तु उनका चरम लक्ष्य भौतिक समृद्धि रहता है। भगवद्गीता (१६.१७-१८) ऐसे व्यक्तियों को आत्म-संभावित कह कर धिक्कारती है, जिसका अर्थ है कि वे कपट के बल पर बड़े समझे जाते हैं और अज्ञानियों के मतों तथा अपनी भौतिक सम्पत्ति द्वारा शक्तिसम्पन्न बने रहते हैं। ऐसे असुर, जो आत्मा साक्षात्कार तथा ईशावास्य या भगवान् के सर्वव्यापक स्वामित्व के ज्ञान से विहीन हैं, निश्चय ही गहनतम अंधकारपूर्ण क्षेत्रों में प्रवेश करेंगे।

निष्कर्ष यह निकला कि मनुष्य होने के नाते हम आर्थिक समस्याओं को डावाँडोल धरातल पर हल करने के लिए नहीं बने हैं अपितु प्रकृति के नियमों द्वारा जिस भौतिक जीवन में हम ला पटके गए हैं, उसकी सारी समस्याओं को हल करने के लिए हैं। ■

मंत्र ४

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्षत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥४॥

अनेजत्–स्थिर; एकम्–एक; मनसः–मन की अपेक्षा; जवीयो–अधिक तेज; न–नहीं; एनत्–यह परमेश्वर; देवाः–इन्द्र जैसे देवता; आप्नुवन्–पहुँच सकते हैं; पूर्वम्– समक्ष; अर्षत्–तेजी से चलते हुए; तत्– वह; धावतः– दौड़ने वालों को; अन्यान्–दूसरे; अत्येति–अतिक्रमण कर जाता है; तिष्ठत्–एक स्थान पर रहते हुए; तस्मिन्–उसमें; अपः–वर्षा; मातरिश्वा–वायु तथा जल के देवता; दधाति –पूर्ति करते हैं।

अनुवाद

अपने धाम में स्थित रहते हुए भी भगवान् मन से अधिक वेगवान हैं और अन्य समस्त दौड़ने वालों को पछाड़ सकते हैं। शक्तिशाली देवता उन तक नहीं पहुँच पाते। एक स्थान पर रहकर वे वायु तथा वर्षा की पूर्ति करने वाले देवताओं को वश में रखते हैं। वे श्रेष्ठता में सबसे आगे हैं।

तात्पर्य

बडा से बड़ा दार्शनिक भी मानसिक चिन्तन द्वारा परमेश्वर अर्थात पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को नहीं जान पाता। वे तो अपने भक्तों द्वारा अपनी कृपा से ही जाने जा सकते हैं। ब्रह्म-संहिता में (५.३४) कहा गया है कि यदि कोई अभक्त दार्शनिक भी वायु या मन के वेग से लाखों वर्षों तक यात्रा करता रहे तो भी वह परम सत्य को अपने से अति दूर पाएगा। ब्रह्म-संहिता (५.३७) में आगे वर्णन है कि भगवान् का अपना दिव्य धाम है, जिसे गोलोक कहते हैं जहाँ वे अपनी लीलाओं में व्यस्त रहते हैं। फिर भी अपनी अचिन्त्य शक्तियों से वे एक ही समय अपनी सृजनात्मक शक्ति के प्रत्येक भाग में पहुँच सकते हैं। विष्णु पुराण में उनकी शक्तियों की तुलना अग्नि से उद्भूत ताप तथा प्रकाश से की गई है। यद्यपि अग्नि एक स्थान पर बनी रहती है तथापि वह अपने प्रकाश तथा ताप को कुछ दूरी तक वितरित कर सकती है। इसी प्रकार पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् अपने दिव्य धाम में स्थिर रहते हुए भी अपनी विभिन्न शक्तियों को सर्वत्र बिखेर सकते हैं।

यद्यपि उनकी शक्तियाँ असंख्य हैं, तथापि उन्हें तीन प्रमुख श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है-अन्तरंगा शक्ति, तटस्था शक्ति तथा बहिरंगा शक्ति । इन श्रेणियों में से प्रत्येक के हजारों-लाखों उपभेद हैं। वायु, प्रकाश, वर्षा इत्यादि प्राकृतिक घटनाओं को नियंत्रित करने वाले शक्ति सम्पन्न प्रमुख देवता, परम पुरुष की तटस्था शक्ति के अन्तर्गत

आते हैं। मनुष्यों समेत सारे निम्न जीव भी भगवान् की तटस्था शक्ति के अंतर्गत आते हैं। यह भौतिक जगत भगवान् की बहिरंगा शक्ति की सृष्टि है और परव्योम या ईश्वर का धाम उनकी अन्तरंगा शक्ति का प्राकट्य है।

इस प्रकार भगवान् की विभिन्न शक्तियाँ सर्वत्र विद्यमान है यद्यपि भगवान् तथा उनकी शक्तियों में कोई अंतर नहीं है लेकिन किसी को भी गलती से यह नहीं मान लेना चाहिए कि ये शक्तियाँ ही परम सत्य हैं और परमेश्वर केवल निराकार रूप से सर्वत्र व्याप्त हैं या कि उनका साकार रूप नहीं होता। लोग अपनी समझ की क्षमता के अनुसार विभिन्न निष्कर्षों तक पहुँचने के आदी हैं, किन्तु परमेश्वर हमारी समझ की सीमित क्षमता के अन्तर्गत नहीं होते। इसीलिए उपनिषद् चेतावनी देते हैं कि कोई भी अपनी सीमित शक्ति से भगवान् तक नहीं पहुँच सकता।

भगवद्गीता में (१०.२) भगवान् कहते हैं कि उन्हें बड़े बड़े ऋषि तथा सुरगण भी नहीं जान पाते। तो फिर उन असुरों के विषय में क्या कहा जाए जिनके लिए भगवान् की गतिविधियों को समझने का प्रश्न ही नहीं उठता। यह चौथा मंत्र स्पष्ट कर देता है कि परम सत्य अन्ततः परम पुरुष हैं अन्यथा उनके साकार रूप के समर्थन में इतनी विविधता का उल्लेख करने की कोई आवश्यकता न होती।

यद्यपि भगवान् की शक्तियों के प्रत्येक अंश में साक्षात् भगवान् के सारे लक्षण रहते हैं लेकिन उनका कार्यक्षेत्र सीमित रहता है; अतएव वे सभी तरह से सीमित होते हैं। अंश कभी भी पूर्ण के समकक्ष नहीं होता, अतएव ये अंश भगवान् की पूरी शक्ति को समझ नहीं सकते। भौतिक प्रकृति के वशीभूत होकर, मूर्ख तथा अज्ञानी जीव, जो भगवान् के अंश स्वरूप हैं भगवान् की दिव्य स्थिति के विषय में अटकलें लगाते हैं। श्री ईशोपनिषद् मानसिक चिन्तन द्वारा भगवान् की पहचान स्थापित करने के प्रयासों की व्यर्थता के प्रति चेतावनी देता है। मनुष्य को वेदों जैसे सर्वोत्कृष्ट स्रोत से भगवान् के अध्यात्म तत्त्व को सीखने का प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि दिव्यता का पूर्ण ज्ञान केवल भगवान् को ही है।

परम पूर्ण का प्रत्येक अंश किसी विशेष शक्ति से सम्पन्न होता है, जिससे वह परमेश्वर की इच्छानुसार कर्म करता है। जब वह जीव-रूपी अंश-विशेष भगवान् की इच्छा द्वारा निर्दिष्ट अपने विशिष्ट कार्यकलापों को भूल जाता है, तो वह माया में स्थित समझा जाता है। इस प्रकार श्रीईशोपनिषद् हमें प्रारम्भ से ही सचेत करती है कि भगवान् द्वारा हमारे लिए जो कार्य नियत है हम उसे ही करें । किन्तु इसका अर्थ यह नहीं होता कि जीवात्मा में अपनी प्रेरणा नहीं होती। चूँकि जीव भगवान् का अंश है उसमें भगवान् की प्रेरणात्मक शक्ति भी होनी चाहिए। जब कोई अपनी प्रेरणा या सक्रिय प्रकृति का उपयोग बुद्धि के द्वारा भलीभाँति यह समझते हुए करता है, कि हर कार्य में भगवान् की शक्ति है, तो वह अपनी पूर्ण चेतना पुनः प्राप्त कर सकता है, जो माया या बहिरंगा शक्ति के सान्निध्य के कारण समाप्त हो गई थी।

चूँकि सारी शक्ति भगवान् से प्राप्त होती है अतएव प्रत्येक विशेष शक्ति का उपयोग भगवान् की इच्छा पूरी करने में करना चाहिए, अन्य किसी कार्य के लिए नहीं। भगवान् ऐसी विनीत सेवा की मनोवृत्ति वाले व्यक्ति द्वारा जाने जा सकते हैं। पूर्ण ज्ञान का अर्थ भगवान् के सभी लक्षणों को जानना, उनकी शक्तियों को जानना और यह जानना कि ये शक्तियाँ उनकी इच्छा से किस प्रकार कार्य करती हैं। ये बातें भगवान् के द्वारा भगवद्गीता में वर्णित हैं, जो समस्त उपनिषदों का सार है। ■

मंत्र ५

तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥५॥

तत्–यह परमेश्वर; एजति–चलता है; तत्–वह ;न– नहीं; दूरे–काफी दूरः तत्–वह; ऊँ–भी; अन्तिके–अत्यन्त निकट; तत्–वह; अन्तः–भीतर; अस्य–इसका; सर्वस्य सबका; तत्–वह; उ–भी; सर्वस्य–सबका; अस्य– इसका; बाह्यतः – बाहर।

अनुवाद

परमेश्वर चलता है और नहीं भी चलता। वह बहुत दूर है लेकिन अत्यंत निकट भी है। वह सबके भीतर है, फिर भी वह सबके बाहर है।

तात्पर्य

यहाँ पर भगवान् के उन दिव्य कार्यकलापों का वर्णन किया गया है, जो उनकी अचिन्त्य शक्तियों द्वारा सम्पन्न होते हैं। यहाँ पर दिए गए विरोधाभासी कथन भगवान् की अचिन्त्य शक्तियाँ सिद्ध करते हैं। वह चलता है और नहीं भी चलता। साधारणतया यदि कोई चल सकता है, तो यह कहना कि वह नहीं चल सकता, तर्क-विरुद्ध होगा। किन्तु भगवान् के संदर्भ में ऐसा विरोधी कथन मात्र उनकी अचिन्त्य शक्तियों को इगिंत करने का कार्य करता है। अपने सीमित ज्ञान से हम ऐसे विरोधी कथनों में सहमति व्यक्त नहीं कर सकते; हम तो अपने ज्ञान की सीमित शक्ति के आधार पर भगवान् की केवल धारणा बना सकते हैं। उदाहरण के तौर पर मायावादी दार्शनिक भगवान् के केवल निराकार कार्यकलापों को स्वीकार करते हैं और उनके साकार रूप को ठुकरा देते हैं। किन्तु भागवत सम्प्रदाय भगवान् की पूर्ण धारणा को अपनाते हुए उनकी अचिन्त्य शक्तियों को स्वीकार करते हैं और इस प्रकार मानते हैं कि वे साकार तथा निराकार दोनों हैं। भागवतगण जानते हैं कि उनकी अचिन्त्य शक्तियों के बिना " परमेश्वर" शब्द का कोई अर्थ नहीं रहता।

हमें यह नहीं मान बैठना चाहिए कि चूँकि हम ईश्वर को अपनी आँखों से नहीं देख सकते अतएव भगवान् साकार नहीं हैं। श्री ईशोपनिषद् इस तर्क का खण्डन करता है और यह घोषणा करता है कि भगवान् बहुत दूर हैं लेकिन अत्यन्त निकट भी हैं। भगवान् का धाम भौतिक आकाश से परे है और हमारे पास इस भौतिक आकाश को भी मापने के साधन उपलब्ध नहीं हैं। यदि भौतिक आकाश ही इतना दूर तक विस्तृत है, तो फिर आध्यात्मिक आकाश के विषय में क्या कहा जा सकता है, जो इससे सर्वथा परे है ? आध्यात्मिक आकाश (परव्योम) के भौतिक ब्रह्माण्ड से अति दूर स्थित होने की पुष्टि भगवद्गीता में (१५.६) हुई है।

लेकिन इतनी दूरी पर रहते हुए भी भगवान् एक पल से भी कम समय में मन या वायु से भी तेज गति से हमारे समक्ष तुरन्त अवतरित हो सकते हैं। वे इतनी तेजी से दौड़ भी सकते हैं कि कोई उनसे आगे नहीं निकल सकता। इसका वर्णन पिछले श्लोक में किया जा चुका है।

फिर भी जब भगवान् हमारे समक्ष आते हैं, तो हम उनकी अनदेखी करते हैं। ऐसी मूर्खतापूर्ण उपेक्षा की भर्त्सना भगवान् द्वारा भगवद्गीता में (९.११) की गई है जहाँ वे कहते हैं कि मूर्ख मुझे मर्त्य प्राणी मानकर मेरा उपहास करते हैं। वे न तो मर्त्य प्राणी हैं, न ही हमारे समक्ष भौतिक प्रकृति द्वारा उत्पन्न शरीर लेकर आते हैं। ऐसे अनेक तथाकथित विद्वान हैं जिनका तर्क है कि भगवान् सामान्य जीव की भाँति पदार्थ-निर्मित शरीर लेकर अवतरित होते हैं। उनकी अचिन्त्य शक्ति को न जानते हुए ऐसे मूर्ख लोग भगवान् को सामान्य व्यक्ति जैसा मान बैठते हैं।

अचिन्त्य शक्तियों से पूर्ण होने के कारण भगवान् किसी भी माध्यम से हमारी सेवा स्वीकार कर सकते हैं और वे अपनी विभिन्न शक्तियों को अपनी इच्छानुसार रूपान्तरित कर सकते हैं। नास्तिकों का तर्क है कि भगवान् या तो अपने आप अवतरित हो ही नहीं सकते और यदि वे ऐसा करते हैं, तो भौतिक शक्ति के रूप में अवतरित होते हैं। यदि हम भगवान् की अचिन्त्य शक्तियों के अस्तित्व को मान लें तो यह तर्क निरस्त हो जाता है। तब हम समझेंगे कि यदि भगवान् हमारे समस्त भौतिक शक्ति के रूप में प्रकट होते भी हैं, तो बहुत सम्भावना है कि वे इस भौतिक शक्ति को आध्यात्मिक शक्ति में रूपान्तरित कर लें। चूँकि शक्तियों का स्रोत एक ही है। अतएव शक्तियों को उनके स्रोत की इच्छानुसार ही काम में लाया जा सकता है। उदाहरणार्थ, भगवान् अर्चाविग्रह में अर्थात मिट्टी, पत्थर या लकड़ी के बने देवता के स्वरूप में प्रकट हो सकते हैं। लकड़ी, पत्थर या अन्य पदार्थ के बने ये अर्चाविग्रह मूर्तियाँ नहीं हैं जैसाकि मूर्तिभंजक तर्क करते हैं।

भौतिक जगत की हमारी वर्तमान अपूर्ण अवस्था में हम अपूर्ण दृष्टि के कारण परमेश्वर को नहीं देख पाते। किन्तु जो भक्त उन्हें भौतिक दृष्टि के द्वारा देखना चाहते हैं उन पर अनुग्रह करके भगवान् अपने तथाकथित भौतिक रूप में प्रकट होकर अपने भक्तों की सेवा स्वीकार करते हैं । हमें यह नहीं समझना चाहिए कि ऐसे भक्त, जो भक्ति की निम्नतम अवस्था में हैं, किसी मूर्ति की पूजा करते हैं। वस्तुतः वे भगवान् की पूजा करते हैं, जो उनके समक्ष ऐसे उपगम्य रूप में प्रकट होने के लिए सहमत हो गए हैं जिस तक सबकी पहुँच हो सके। न ही अर्चा-स्वरूप को पूजक की सनक के अनुसार गढ़ा जाता है | यह स्वरूप अपने साज-सामान के साथ शाश्वत तौर पर विद्यमान रहने वाला है। इसकी वास्तविक अनुभूति निष्ठावान भक्त को ही हो सकती है, नास्तिक को नहीं।

भगवद्गीता में (४.११) भगवान् इंगित करते हैं कि वे भक्त की शरणागति को किस प्रकार लेते हैं: यह उसकी शरणागति की मात्रा पर निर्भर करता है। यह अधिकार उनके हाथों

में है कि वे शरणागतों के अतिरिक्त किसी और के समक्ष प्रकट हो या न हों। प्रपन्न (शरणागत) जीवों को वे सदैव लभ्य हैं परन्तु शरण में न गए जीवों के लिए वे अति दूर तथा अगम्य हैं।

इस सन्दर्भ में शास्त्रों में प्रायः प्रयुक्त होने वाले दो शब्द सगुण (गुणों से युक्त) तथा निर्गुण (गुणों से रहित)-अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। सगुण शब्द यह नहीं कहता कि जब वे दृष्टिगोचर गुणों सहित प्रकट होते हैं, तो वे भौतिक रूप लेकर आते हैं और प्रकृति के नियमों के अधीन रहते हैं। उनके लिए भौतिक तथा आध्यात्मिक शक्तियों में अन्तर नहीं होता क्योंकि वे समस्त शक्तियों के स्रोत हैं। समस्त शक्तियों के नियंत्रक के रूप में वे हमारी तरह कभी भी उनके वश में नहीं हो सकते। भौतिक शक्ति उनकी अध्यक्षता में कार्य करती है अतएव वे उस शक्ति को अपने कार्य के लिए उस शक्ति के किसी भी गुण से प्रभावित हुए बिना प्रयोग कर सकते हैं। (इस संदर्भ में, वे निर्गुण हैं)। न ही भगवान् कभी निराकार हो जाते हैं क्योंकि अन्ततोगत्वा वे शाश्वत रूप आदि भगवान् हैं। उनका निराकार स्वरूप या ब्रह्मतेज उनकी व्यक्तिगत किरणों की चमक मात्र है, जिस प्रकार सूर्य की किरणें सूर्य देव की चमक हैं।

जब बालक-संत प्रहलाद महाराज अपने नास्तिक पिता के समक्ष थे तो उनके पिता ने उनसे पूछा, "कहाँ है तुम्हारा ईश्वर ?" तब प्रह्लाद ने उत्तर दिया कि ईश्वर सर्वत्र निवास करता है, तो पिता ने क्रुद्ध होकर पूछा कि क्या तुम्हारा ईश्वर इस महल के किसी खम्भे में भी है ? तो बालक ने कह दिया "हाँ।" उस नास्तिक राजा ने उस खम्भे को तुरन्त उसी के सामने खण्ड-खण्ड कर डाला और नरसिंह के रूप में भगवान् उसी समय प्रकट हो गए और उन्होंने उस नास्तिक राजा को मार डाला। इस प्रकार ईश्वर सभी वस्तुओं के भीतर हैं और वे अपनी विभिन्न शक्तियों से हर वस्तु की सृष्टि करते हैं। वे अपनी अचिन्त्य शक्तियों से अपने निष्ठावान भक्त पर कृपा दिखाने के लिए किसी भी स्थान पर प्रकट हो सकते हैं। भगवान् नृसिंह उस खम्भे के भीतर से नास्तिक राजा के आदेश से नहीं प्रकट हुए थे अपितु अपने भक्त प्रह्लाद की इच्छा से प्रकट हुए थे। कोई नास्तिक भगवान् को प्रकट होने का आदेश नहीं दे सकता लेकिन भगवान् अपने भक्त पर कृपा दिखाने के लिए कहीं भी प्रकट हो जाएंगे। इसी प्रकार भगवद्गीता (४.८) का कथन है कि भगवान् नास्तिकों का नाश करने तथा आस्तिकों की रक्षा करने के लिए प्रकट होते हैं। निस्सन्देह. भगवान् के पास पर्याप्त शक्तियाँ तथा कार्यवाहक हैं. जो नास्तिकों का सफाया कर सकते हैं लेकिन भक्तों पर स्वयं कृपा करने में उन्हें हर्ष होता है। अतएव वे अवतार के रूप में प्रकट होते हैं। वास्तव में वे अपने भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए ही अवतरित होते हैं, किसी अन्य प्रयोजन से नहीं।

ब्रह्म-संहिता (५.३५) में कहा गया है कि आदि भगवान् गोविन्द अपने पूर्ण अंश द्वारा प्रत्येक वस्तु में प्रवेश करते हैं। वे ब्रह्माण्ड तथा ब्रह्माण्ड के सारे परमाणुओं तक में प्रवेश करते हैं। वे विराट् रूप में प्रत्येक वस्तु से बाहर रहते हैं, किन्तु अपने अन्तर्यामी रूप में वे प्रत्येक वस्तु के भीतर रहते हैं। अन्तर्यामी रूप में वे घटित होने वाली प्रत्येक घटना के साक्षी हैं और हमें अपने कर्मों का फल प्रदान करते हैं। भले ही हम भूल जाँए कि हमने पूर्वजन्म में क्या क्या

किया था लेकिन चूँकि भगवान् हमारे कार्यों के साक्षी स्वरूप हैं, अतएव हमारे कर्मों के फल सदैव मिलते ही हैं और हमें उन फलों को भोगना होता है।

तथ्य तो यह है कि भीतर तथा बाहर ईश्वर के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। प्रत्येक वस्तु उनकी विभिन्न शक्तियों का प्राकट्य है, जिस तरह अग्नि से ताप तथा प्रकाश उद्भूत होते हैं। इस तरह उनकी विभिन्न शक्तियों में एकरूपता है। इस एकरूपता के होने पर भी भगवान् अपने साकार रूप में उन सब वस्तुओं को पूर्ण-रूपेण भोगते हैं, जो उनके अंश रूप सूक्ष्म जीवों की इन्द्रियों द्वारा पूरी तरह भोग्य हैं। ■

मंत्र ६

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥६॥

यः-जो; तु-लेकिन; सर्वाणि-समस्त; भूतानि- जीवों को; आत्मनि-परमेश्वर के सम्बन्ध में; एव- केवल; अनुपश्यति-नियमित ढंग से देखता है; सर्वभूतेषु-समस्त जीवों में; च-तथा; आत्मानम्-परमात्मा को; ततः तत्पश्चात : न-नहीं; विजुगुप्सते- किसी से घृणा करता है।

अनुवाद

जो प्रत्येक वस्तु को परमेश्वर के सन्दर्भ में देखता है, जो समस्त जीवों को उनके अंश-रूप में देखता है तथा जो परमेश्वर को प्रत्येक वस्तु के भीतर देखता है, वह कभी भी किसी वस्तु से या किसी जीव से घृणा नहीं करता।

तात्पर्य

यह महाभागवत अर्थात् उस महापुरुष का विवरण है, जो हर वस्तु को भगवान के सन्दर्भ में देखता है। परमेश्वर की उपस्थिति की अनुभूति की तीन अवस्थाएँ हैं। कनिष्ठ अधिकारी अनुभूति की निम्नतर अवस्था में होता है। वह अपनी धार्मिक आस्था के अनुसार किसी पूजा स्थल यथा मन्दिर, गिरजाघर या मस्जिद में जाता है और वहाँ पर शास्त्रों के आदेशानसार पूजा करता है। ऐसी अवस्था के भक्त भगवान को पूजास्थल पर ही उपस्थित मानते हैं, अन्यत्र कहीं नहीं। वे न तो यह निश्चित कर पाते हैं कि भक्ति में कौन किस पद पर है, न ही वे यह बता सकते हैं कि किसे भगवान की अनुभूति हो चुकी है। ऐसे भक्त नित्य कर्म करते हैं और कभी-कभी परस्पर लड-झगड भी पड़ते हैं कि अमुक प्रकार की भक्ति दूसरे से श्रेष्ठ है। वास्तव में ये कनिष्ठ अधिकारी भौतिकतावादी भक्त होते हैं, जो आध्यात्मिक स्तर तक पहुँचने के लिए भौतिक सीमा को लाँघने का मात्र प्रयत्न करते रहते हैं।

जिन्हें अनुभूति की दूसरी अवस्था प्राप्त हो चुकी होती है वे मध्यम अधिकारी कहलाते हैं। ये भक्त चार श्रेणियों के बीच के अन्तर को मानने वाले होते हैं- (१) परमेश्वर; (२) भगवद्भक्त; (३) वे अबोध जिन्हें भगवान का कोई ज्ञान नहीं है; और (४) नास्तिक, जो भगवान पर श्रद्धा नहीं रखते और भक्ति करने वालों से घृणा करते हैं। मध्यम अधिकारी इन

चार श्रेणियों के मनुष्यों के प्रति पृथक्-पृथक् प्रकार से वर्ताव करता है। वह भगवान को प्रेम का उपादान मानकर उनकी पूजा करता है और भक्ति करने वालों से मैत्री स्थापित करता है। वह अबोधों के हृदय में सप्त भगवत्प्रेम जगाने का प्रयास करता है, किन्तु वह उन नास्तिकों के पास नहीं जाता जो भगवान के नाम से ही घृणा करते हैं।

मध्यम अधिकारी के ऊपर उत्तम अधिकारी होता है, जो प्रत्येक वस्तु को भगवान से सम्बन्धित देखता है। ऐसा भक्त नास्तिक तथा आस्तिक में भेदभाव नहीं करता अपितु हर एक को ईश्वर का अंश मानता है। वह जानता है कि एक विद्वान ब्राह्मण तथा गली के कुत्ते में कोई अन्तर नहीं होता क्योंकि दोनों ही भगवान के अंश हैं, यद्यपि वे अपने विगत जीवन के कर्मों के भिन्न भिन्न गुणों के अनुसार भिन्न-भिन्न देह धारण किए हैं। वह देखता है कि परमेश्वर के अंशरूप ब्राह्मण ने भगवान द्वारा प्रदत्त अपनी स्वल्प स्वतंत्रता का दुरुपयोग नहीं किया है और कुत्ता अपनी स्वतंत्रता का दुरुपयोग करके प्रकृति के नियमों द्वारा दण्डित होकर कुत्ते के शरीर में बद्ध है। ब्राह्मण तथा कुत्ते के अपने-अपने कार्यों का विचार किए बिना उत्तम अधिकारी दोनों का कल्याण करना चाहता है। ऐसा विद्वान भक्त भौतिक शरीरों द्वारा भ्रान्त नहीं होता अपितु उन जीवों के आन्तरिक आध्यात्मिक स्फुलिंग से आकृष्ट होता है।

जो लोग एकरूपता या मित्रता के भाव का अतिक्रमण करके उत्तम अधिकारी का अनुकरण तो करते हैं, किन्तु देहात्मबुद्धि के स्तर पर आचरण करते हैं, वे वास्तव में झूठे परोपकारी हैं। विश्वबन्धुत्व की धारणा उत्तम अधिकारी से सीखनी चाहिए न कि किसी मूर्ख व्यक्ति से जो आत्मा या परमात्मा के विस्तार-अंश को भी-जो सर्वत्र निवास करता है-ठीक से नहीं जानता।

इस छठे मंत्र में यह स्पष्ट: उल्लिखित है कि मनुष्य को चाहिए कि वह ठीक तरह से "देखे"। इसका अर्थ यह हुआ कि वह पूर्ववर्ती आचार्य का अनुसरण करे जो सिद्ध शिक्षक है| इस प्रसंग में " अनुपश्यन्ति" अत्यंत उपयुक्त संस्कृत शब्द है।" अनु" का अर्थ है अनुसरण करना और "पश्यति" का अर्थ है देखना। इस प्रकार “अनुपश्यति" शब्द का अर्थ यह हुआ कि वह वस्तुओं को उस रूप में न देखे जिस तरह वह अपनी खुली आँखों से देखता है, प्रत्युत पूर्ववर्ती आचार्यों का अनुसरण करे। भौतिक दोषों के कारण आँखे किसी भी वस्तु को ठीक से नहीं देख पाती। कोई तब तक ठीक से नहीं देख सकता जब तक उसने किसी श्रेष्ठ स्रोत से "सुन" न रखा हो और सर्वोच्च स्रोत वैदिक ज्ञान है, जिसकी चर्चा स्वयं भगवान ने की है। वैदिक सत्य शिष्य-परम्परा द्वारा भगवान से ब्रह्मा, ब्रह्मा से नारद, नारद से व्यास और व्यास से उनके कई शिष्यों तक आता है। पहले वेदों के सन्देश को अभिलिखित करने की आवश्यकता नहीं थी क्योंकि तब लोग अधिक बुद्धिमान तथा प्रखर स्मरणशक्ति वाले होते थे। वे प्रामाणिक गुरु के मुख से मात्र एक बार सुनकर उपदेशों का अनुसरण कर सकते थे।

इस समय शास्त्रों की अनेक टीकाएँ प्राप्त हैं, किन्तु उनमें से अधिकांश उस शिष्य-परम्परा से मेल नहीं खाती हैं, जो श्रील व्यासदेव से प्रारम्भ होती है, जिन्होंने पहले-पहल

वैदिक वाङ्मय का संकलन किया। श्रील व्यासदेव की अन्तिम, परम पूर्ण तथा भव्य कृति श्रीमद्भागवत है, जो वेदान्त-सूत्र की सहज टीका है। भगवद्गीता भी एक कृति है, जिसका प्रवचन स्वयं भगवान ने किया और व्यासदेव ने उसको लिपिबद्ध किया। ये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण शास्त्र हैं और ऐसी कोई भी टीका जा भगवद्गीता या श्रीमद्भागवत के सिद्धान्तों के विपरीत है, अवैध है। उपनिषदों, वेदों, वेदांत सूत्र, भगवद्गीता तथा श्रीमद्भागवत के मध्य पूर्ण साम्य है और किसी को वेदों के सम्बन्ध में तब तक किसी भी निर्णय तक पहुँचने का प्रयास नहीं करना चाहिए जब तक उसे व्यासदेव की शिष्य-परम्परा के सदस्यों से आदेश न प्राप्त हो जाँय, जो भगवान तथा उनकी विभिन्न शक्तियों पर विश्वास करते हैं, जैसे कि *श्रीईशोपनिषद्* में व्याख्या हुई है।

भगवद्गीता के अनुसार (१८.५४), जो पहले से मुक्त पद (ब्रह्मभूत) पर आसीन है और प्रत्येक जीव को अपना ही भाई मानता है, वही उत्तम-अधिकारी भक्त बन सकता है। ऐसी दृष्टि राजनीतिज्ञों को नहीं प्राप्त हो सकती, जो सदैव किसी न किसी भौतिक लाभ के पीछे पड़े रहते हैं। जो व्यक्ति उत्तम अधिकारी के लक्षणों का अनुकरण करता है, वह भले ही किसी दूसरे के बाहरी शरीर का उपयोग यश या भौतिक लाभ के लिए करता हो, लेकिन वह आत्मा की सेवा नहीं करता। ऐसे अनुकरणकर्ता (नकलची) को आध्यात्मिक जगत की कोई जानकारी नहीं मिल सकती । उत्तम अधिकारी भौतिक शरीर में ही जीवात्मा का दर्शन करता है और आत्मा के रूप में उसकी सेवा करता है। इस प्रकार भौतिक पक्ष की स्वत: सेवा होती रहती है। ■

मंत्र ७

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥७॥

यस्मिन्-जिस स्थिति में; सर्वाणि-सभी; भूतानि - जीव; आत्मा-आध्यात्मिक स्फुलिंग; एव-केवल; अभूत्-की तरह विद्यमान; विजानतः- जानने वाले का; तत्र-वहाँ पर; कः-क्या; मोहः-मोह; कः-क्या; शोकः -शोक; एकत्वम्-गुण की एकता; अनुपश्यतः प्रमाण के माध्यम से देखने वाले का या उस तरह निरन्तर देखने वाले का।

अनुवाद

जो सदैव समस्त जीवों को आध्यात्मिक स्फुलिंग के रूप में भगवान के ही समान गुण वाला देखता है, वही वस्तुओं का असली ज्ञाता हो जाता है। तो फिर उसके लिए मोह या चिन्ता कैसी ?

तात्पर्य

जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है मध्यम अधिकारी तथा उत्तम अधिकारी के अतिरिक्त अन्य कोई भी व्यक्ति जीव की आध्यात्मिक स्थिति को सही-सही नहीं देख पाता। गुणात्मक दृष्टि से जीव परमेश्वर से अभिन्न हैं जिस प्रकार अग्नि के स्फुलिंग और अग्नि गुण की दृष्टि से एक हैं। फिर भी मात्रा के अनुसार ये स्फुलिंग अग्नि नहीं है क्योंकि स्फुलिंग में ताप तथा प्रकाश की जो मात्रा रहती है, वह अग्नि के ताप तथा प्रकाश की मात्रा के तुल्य नहीं होती। महाभागवत को इनमें एकत्व इसलिए दिखता है क्योंकि वह प्रत्येक वस्तु को परमेश्वर की शक्ति के रूप में देखता है। चूँकि शक्ति तथा शक्तिमान में कोई अंतर नहीं रहता अतएव उसमें एकत्व का भाव होता है। यद्यपि विश्लेषणात्मक दृष्टि से ताप तथा प्रकाश अग्नि से भिन्न हैं तथापि ताप तथा प्रकाश के बिना 'अग्नि' शब्द का कोई अर्थ नहीं होता। लेकिन सामासिक रूप में ताप, प्रकाश तथा अग्नि सभी एक हैं।

इस मंत्र में "एकत्वं अनुपश्यतः" शब्द सूचित करते हैं कि मनुष्य को चाहिए कि वह शास्त्रों की दृष्टि से समस्त जीवों के एकत्व को देखे। परम पूर्ण के पृथक्-पृथक् स्फुलिंगों में पूर्ण के लगभग अस्सी प्रतिशत ज्ञात गुण पाए जाते हैं लेकिन मात्रा में वे परमेश्वर के तुल्य नहीं होते। ये गुण सूक्ष्म मात्रा में उपस्थित रहते हैं क्योंकि जीव उस परम पूर्ण का क्षुद्र अंश ही होता है। यदि हम दूसरी उपमा प्रयोग में लाएँ तो कह सकते हैं कि एक बूंद में जितनी मात्रा

में नमक होता है, वह कभी भी पूर्ण समुद्र उपस्थित नमक की मात्रा के तुल्य नहीं होता। लेकिन एक बूँद में उपस्थित नमक अपने रासायनिक संघटन में सारे समुद्र में उपस्थित नमक के ही समान होता है। यदि गुण तथा मात्रा दोनों की दृष्टि से जीव परमेश्वर के तुल्य होता तो उसके प्रकृति के वश में होने का प्रश्न ही न उठता। पिछले मंत्रों में बताया जा चुका है कि कोई भी जीव-यहाँ तक कि बलशाली देवता भी-परम पुरुष से किसी भी प्रकार से बढ़कर नहीं हो सकता; अतएव एकत्वम् का अर्थ यह नहीं है कि जीव सभी प्रकार से परमेश्वर के समान है। इतना संकेत अवश्य है कि व्यापक अर्थ में दोनों का एक अभीष्ट प्रयोजन है, जिस प्रकार परिवार के सभी सदस्यों का एक ही स्वार्थ रहता है या कि राष्ट्र में राष्ट्रीय स्वार्थ एक ही होता है भले ही नागरिक कितने विभिन्न व्यक्ति क्यों न हों। चूँकि सारे जीव एक ही परम परिवार के अंश हैं परम पुरुष तथा इन अंशों का स्वार्थ भिन्न नहीं है। प्रत्येक जीव परम पुरुष का पुत्र है। जैसाकि भगवद्गीता में (७.५) कहा गया है, ब्रह्माण्ड भर के सभी जीव जिनमें पक्षी, सरीसृप, चींटियाँ, जलचर, वृक्ष इत्यादि सम्मिलित हैं, परमेश्वर की तटस्था शक्ति से उद्भूत हैं। अतएव ये सभी परम पुरुष के परिवार से सम्बन्धित हैं। इन में स्वार्थों का टकराव नहीं है।

आध्यात्मिक जीव भोग के निमित्त हैं जैसाकि वेदान्त सूत्र (१.१.१२) में वर्णित है- आनन्दमयोऽभ्यासात् । प्रकृति एवं संरचना दोनों की दृष्टि से प्रत्येक जीव, जिसमें परमेश्वर तथा उनका प्रत्येक अंश सम्मिलित हैं, शाश्वत भोग के लिए है। जो जीव शरीर के बंधन से जकड़े हुए हैं, वे निरन्तर भोग की तलाश में रहते हैं लेकिन वे उसकी खोज गलत स्तर पर करते हैं। इस भौतिक जगत के अतिरिक्त एक आध्यात्मिक स्तर भी है जहाँ परम पुरुष अपने असंख्य पार्षदों सहित रमण करता है। वहाँ पर भौतिक गुणों का लेश मात्र भी नहीं रहता, अतएव यह स्तर निर्गुण कहलाता है। निर्गुण स्तर पर भोग की वस्तु को लेकर कभी कोई झगड़ा नहीं होता लेकिन इस भौतिक जगत में विभिन्न जीवों के बीच निरन्तर टकराव होता रहता है क्योंकि यहाँ पर भोग का उपयुक्त केन्द्र उपेक्षित है। भोग का असली केन्द्र तो परमेश्वर हैं, जो भव्य तथा आध्यात्मिक रास नृत्य के केन्द्र हैं। हम सब उनके साथ रहने तथा दिव्य रुचि तथा विरोध रहित जीवन बिताने के लिए हैं । आध्यात्मिक रुचि का यह उच्च स्तर है और ज्योंही कोई एकत्व के इस पूर्ण रूप को पा लेता है त्योंही मोह या शोक का कोई प्रश्न ही नहीं रह जाता।

ईश्वरविहीन सभ्यता का उदय माया से होता है और ऐसी सभ्यता का परिणाम परिताप या शोक होता है। आधुनिक राजनीतिज्ञों ने जिस प्रकार की ईश्वरविहीन सभ्यता का प्रतिपादन किया है, वह सदा चिंताओं से ओतप्रोत रहती है क्योंकि यह किसी भी समय ध्वस्त की जा सकती है-यह प्रकृति का नियम है। जैसाकि भगवद्गीता में (७.१४) कहा गया है कि जिन लोगों ने भगवान के चरणकमलों में आत्मसमर्पण कर रखा है उनके सिवाय कोई भी प्रकृति के कड़े नियमों को नहीं लांघ सकता है। इस तरह यदि हम सभी प्रकार के मोह तथा

चिन्ता से मुक्त होना चाहते हैं और अपने विभिन्न स्वार्थों में एकत्व लाना चाहते हैं, तो हमें अपने सारे कार्यकलापों के मध्य ईश्वर को लाना होगा।

हमारे कार्यकलापों के फलों का उपयोग केवल भगवान के हित में होना चाहिए, अन्य किसी प्रयोजन के लिए नहीं। भगवान का हित ध्यान में रखकर ही हम यहाँ पर वर्णित *आत्म-भूत* शब्द तथा भगवद्गीता में (१८.५४) वर्णित *ब्रह्म भूत* शब्द को समझ सकते हैं जिनका अभिप्राय एक ही है। परम आत्मा तो साक्षात भगवान हैं और सूक्ष्म आत्मा जीव है। परमात्मा अकेले ही सारे व्यष्टि सूक्ष्मजीवों का पालन करता है क्योंकि परमात्मा उनके स्नेह से आनन्द प्राप्त करना चाहता है। पिता पुत्रों के माध्यम से अपना विस्तार करता है और आनन्द प्राप्त करने के लिए उनका पालन करता है। यदि पुत्र पिता की इच्छा के प्रति आज्ञाकारी होते हैं, तो परिवार के सारे कार्य सुरुचि-पूर्ण तथा सुखमय वातावरण में सुचारु रूप से चलते रहते हैं। ठीक यही स्थिति परब्रह्म के परिवार में दिव्यरूप से नियोजित रहती है।

परब्रह्म जीवात्मा के समान एक व्यक्ति है। न तो भगवान निराकार है, न ही जीव। ऐसे दिव्य पुरुष सच्चिदानन्द स्वरूप हैं। आध्यात्मिक जगत की यही असली स्थिति है और ज्योंही मनुष्य को इस आध्यात्मिक पद का बोध हो जाता है त्योंही वह परम पुरुष श्री कृष्ण के चरणकमलों में समर्पित हो जाता है। लेकिन ऐसे महात्मा का दर्शन विरले ही होता है क्योंकि ऐसी दिव्य अनुभूति अनेकानेक जन्मों के बाद ही प्राप्त होती है (भगवद्गीता ७.१९) । किन्तु एक बार प्राप्त हो जाने पर किसी तरह का मोह या शोक या संसार के दुख, जन्म तथा मृत्यु नहीं रह जाते जो हमारे वर्तमान जीवन में अनुभव किए जाते हैं। श्री ईशोपनिषद् के इस मंत्र से हमें यह जानकारी प्राप्त होती है। ■

मंत्र ८

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रण-
मस्नाविरँ शुद्धमपापविद्धम्।
कविर् मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्
याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥८॥

सः-वह व्यक्ति; पर्यगात्-वास्तव में जानना चाहिए; शुक्रम्-सर्वशक्तिमान; अकायम्-अदेहधारी; अव्रणम् अनिन्ध्य; अस्नाविरम्-नसों (शिराओं) से रहित; शुद्धम् पूतिरोधी; अपाप-विद्धम् - रोगनिरोधी; कवि:- सर्वज्ञ; मनीषी-दार्शनिक; परिभूः-सबसे बड़ा; स्वयम्भूः-आत्म निर्भर, आत्माराम; याथातथ्यत:- के अनुसार; अर्थान् इच्छित; व्यदधात्-पुरस्कार देता है; शाश्वतीभ्यः-अनादि; समाभ्य:-काल से।

अनुवाद

ऐसे पुरुष को सही-सही जानना चाहिए कि वह सब से महान् पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान कौन है जो अदेहधारी, सर्वज्ञ, अनिन्ध्य, शिराओं से विहीन, शुद्ध, अदूषित, आत्मनिर्भर दार्शनिक है और जो अनादिकाल से हर एक की इच्छापूर्ति करता आया है।

तात्पर्य

यह पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान के दिव्य एवं शाश्वत स्वरूप का वर्णन है। परमेश्वर स्वरूपविहीन (निराकार) नहीं हैं। उनका अपना ही दिव्य रूप है, जो इस भौतिक जगत के रूपों से तनिक भी मेल नहीं खाता। इस जगत के जीवों के रूप भौतिक प्रकृति में सन्निहित हैं और वे एक भौतिक मशीन (यंत्र) के समान कार्य करते हैं। भौतिक शरीर की संरचना रक्त वाहिनियों इत्यादि के साथ एक यांत्रिक बनावट होती है। लेकिन परमेश्वर के दिव्य शरीर में शिराओं जैसा कुछ नहीं होता। यहाँ यह स्पष्ट कहा गया है कि वे अदेहधारी हैं जिसका अर्थ है कि उनके शरीर तथा आत्मा में कोई अन्तर नहीं है। न ही वे प्रकृति के नियमों के अनुसार शरीर ग्रहण करने के लिए बाध्य होते हैं जैसाकि हम होते हैं। देहात्मबुद्धि में आत्मा स्थूल देह तथा सूक्ष्म मन से भिन्न है। उनकी देह, मन तथा उनमें कोई अन्तर नहीं है। वे परम पूर्ण हैं और उनका मन, शरीर तथा स्वयं वे सभी एक ही हैं।

ब्रह्म-संहिता (५.१) में परमेश्वर का ऐसा ही वर्णन मिलता है। उसमें उन्हें सच्चिदानन्द विग्रह कहा गया है, जिसका अर्थ है कि वे दिव्य अस्तित्व, ज्ञान तथा आनंद का पूर्ण प्रतिनिधित्व करने वाले शाश्वत स्वरूप हैं। अत: उन्हें पृथक् शरीर अथवा मन की आवश्यकता नहीं होती जैसे हमें भौतिक अस्तित्व में होती है। वैदिक ग्रंथों में स्पष्ट कथन है कि उनका दिव्य शरीर हमारे शरीर से सर्वथा भिन्न होता है। इस प्रकार उन्हें कभी कभी निराकार कहा जाता है। इसका अर्थ है कि उनका स्वरूप हमारे समान नहीं होता और वे ऐसे स्वरूप से विहीन हैं जिसकी हम कल्पना कर सके । ब्रह्म-संहिता (५.३२) में आगे यह भी कहा गया है कि भगवान अपने शरीर के किसी अंग से दूसरी इन्द्रियों का काम भी कर सकते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि वे अपने हाथों से चल सकते हैं, अपने पाँवों से वस्तुएँ पकड़ सकते हैं, अपने हाथों तथा पैरों से देख सकते हैं, अपनी आँखों से खा सकते हैं इत्यादि इत्यादि। श्रुतिमंत्रो में यह भी कहा गया है कि यद्यपि भगवान के हमारे जैसे हाथ, पाँव नहीं होते, उनके भिन्न प्रकार के हाथ एवं पैर होते हैं जिनसे वे हमारे द्वारा अर्पित हर वस्तु ग्रहण कर सकते हैं और किसी की भी अपेक्षा अधिक तेज दौड सकते हैं। इस आठवें मंत्र में इन सारे बिन्दुओं की *शुक्रम* (सर्वशक्तिमान) जैसे शब्द के उपयोग से पुष्टि होती हैं।

भगवान का पूज्य स्वरूप (अर्चाविग्रह) भी जिसकी स्थापना ऐसे प्रामाणिक आचार्यों द्वारा मन्दिरों में की जाती है जिन्होंने सातवें मंत्र के अनुसार भगवान का साक्षात्कार किया है, भगवान के मूल स्वरूप से अभिन्न है। भगवान का मूल स्वरूप श्री कृष्ण का है और श्रीकृष्ण अपना विस्तार असंख्य रूपों में यथा बलदेव, राम, नृसिंह, वराह आदि में करते हैं। ये सारे के सारे स्वरूप एक ही भगवान हैं।

इसी तरह जो अर्चाविग्रह मन्दिरों में पूजा जाता है, वह भी भगवान का विस्तारित रूप है। अर्चाविग्रह की पूजा करके मनुष्य तुरन्त उन भगवान के निकट पहुँच सकता है, जो अपनी सर्वव्यापक शक्ति से भक्त की सेवा स्वीकार करते हैं । भगवान का अर्चाविग्रह आचार्यों के अनुरोध पर अवतरित होता है और वह उनकी सर्वशक्तिमत्ता के बल पर अपने मूल रूप की तरह ही कार्य करता है। जिन मूर्ख लोगों को श्री ईशोपनिषद् का या किसी भी अन्य श्रुति मंत्र का ज्ञान नहीं है वे शुद्ध भक्तों द्वारा पूजित अर्चाविग्रह को भौतिक तत्वों निर्मित मानते हैं। यह स्वरूप मूर्ख लोगों या कनिष्ठ अधिकारियों को उनकी अपूर्ण दृष्टि से भौतिक दिखता है लेकिन ऐसे लोग यह नहीं जानते कि भगवान सर्वशक्तिमान तथा सर्वज्ञ होने के कारण इच्छानुसार जड़ को चेतन और चेतन को जड़ में बदल सकते हैं।

भगवद्गीता में (९.११-१२) भगवान उन अल्पज्ञ व्यक्तियों की अधोगति पर खेद प्रकट करते हैं, जो भगवान के शरीर का इसलिए उपहास करते हैं कि वे मनुष्य की भाँति इस जगत में अवतरित होते हैं। ऐसे अल्पज्ञ व्यक्ति भगवान की सर्वशक्तिमत्ता को नहीं जानते। इस प्रकार मानसिक चिन्तकों (ज्ञानियों) के लिए भगवान कभी पूर्ण रूप से प्रकट नहीं होते। वे उनके प्रति व्यक्ति की शरणागति की गुणविशिष्टता के अनुसार ही जाने सकते हैं। जीवों की अधोगति का एकमात्र कारण ईश्वर के साथ अपने सम्बन्धों की विस्मृति ही है।

इस मंत्र में तथा अन्य अनेक वैदिक मंत्रों में यह स्पष्ट कहा गया है कि भगवान अनादि काल से जीव को सारी वस्तुएँ प्रदान करते रहे हैं। जीव जो वस्तु चाहता है भगवान् उस जीव की योग्यता के अनुपात से उसे प्रदान करते हैं। यदि कोई मनुष्य उच्च न्यायालय का न्यायाधीश बनना चाहता है, तो उसे न केवल आवश्यक योग्यताएँ अर्जित करनी होगी अपितु उसे उस अधिकारी की सहमति भी प्राप्त करनी होगी जो न्यायालय के न्यायाधीश की पदवी प्रदान कर सकता है। पद- प्राप्ति के लिए मात्र योग्यताएँ ही पर्याप्त नहीं होंगी। यह पद किसी श्रेष्ठ अधिकारी द्वारा प्रदान किया जाना चाहिए। इसी प्रकार भगवान् जीवों को उनकी योग्यताओं के अनुसार भोग प्रदान करते हैं। दूसरे शब्दों में, उन्हें कर्म-नियम के अनुसार पुरस्कृत किया जाता है। किन्तु मात्र योग्यताएँ ही पुरस्कार पाने के लिए पर्याप्त नहीं होतीं। भगवान की कृपा की भी आवश्यकता होती है।

सामान्यतः जीव यह नहीं जानता कि भगवान से क्या माँगा जाए तो उनसे किस पद के लिए याचना की जाए ? जब जीव को अपनी स्वाभाविक स्थिति का पता चल जाता है, तो वह याचना करता है कि उसे भगवान अपनी दिव्य संगति के लिए स्वीकार करें जिससे वह उनकी दिव्य प्रेममयी सेवा कर सके। दुर्भाग्यवश सारे जीव भौतिक माया के वशीभूत होकर अनेक अन्य वस्तुएँ माँगते हैं। उनकी इस मनोवृत्ति का वर्णन भगवद्गीता में (२.४१) बिखरी या विभक्त बुद्धि के रूप में किया गया है। आध्यात्मिक बुद्धि एक है लेकिन सांसारिक बुद्धि विविध प्रकार की है। श्रीमद्भागवत (७.५.३०-३१) में कहा गया है कि जो लोग बहिरंगा शक्ति के क्षणिक सौन्दय से मोहित हो जाते हैं, वे जीवन के असली उद्देश्य को भूल जाते हैं, जो कि भगवद्धाम को वापस जाना होता है। इसे भूल कर मनुष्य अनेक योजनाओं तथा कार्यक्रमों द्वारा संतुलन लाना चाहता है लेकिन यह तो चर्वित-चर्वण की भाँति है। फिर भी भगवान इतने कृपालु हैं कि वे भुलक्कड़ जीव को बिना किसी अवरोध के इसी तरह आगे चलने देते हैं। अतः ईशोपनिषद् का यह मंत्र अत्यन्त उचित शब्द *याथातथ्यत:* का उपयोग करता है, जिससे यह संकेत होता है कि भगवान जीवों को उनकी इच्छाओं के अनुसार पुरस्कृत करते हैं। यदि कोई जीव नरक जाना चाहता है, तो भगवान बिना रोक टोक के उसे ऐसा करने देते हैं और यदि वह घर वापस जाना चाहता है अर्थात् भगवद्धाम वापस जाना चाहता है, तो वे उसकी सहायता करते हैं।

यहाँ पर ईश्वर को परिभू: अर्थात् सबसे बड़ा कहा गया है। कोई भी उनसे बड़ा या उनके बराबर नहीं है। अन्य जीवों को भिक्षुक रूप में बताया गया है, जो भगवान से वस्तुओं की भीख माँगते हैं। भगवान् जीवों को उनकी इच्छित वस्तुएँ प्रदान करते हैं। जीव यदि शक्ति में भगवान के समान होते अथवा यदि वे सर्वशक्तिमान तथा सर्वज्ञ होते, तो भगवान के समक्ष याचना करने का, यहाँ तक कि तथाकथित मुक्ति मांगने का भी, प्रश्न न उठता। वास्तविक मुक्ति का अर्थ है भगवद्धाम को वापस जाना। निर्विशेषवादी द्वारा परिकल्पित मुक्ति मात्र कपोलकल्पना है और इन्द्रियतृप्ति के लिए याचना तो तब तक चलती रहेगी जब

तक भिक्षुक (याचिका) को अपनी आध्यात्मिक तथा स्वाभाविक स्थिति की अनुभूति न हो जाए।

केवल परमेश्वर ही आत्मनिर्भर (आत्माराम) हैं। ५००० वर्ष पूर्व जब भगवान कृष्ण इस धराधाम पर प्रकट हुए तो उन्होंने अपने विभिन्न कार्यकलापों द्वारा भगवान की पूर्ण अभिव्यक्ति प्रदर्शित की। बचपन में उन्होंने अघासुर, बकासुर तथा शकटासुर जैसे अनेक शक्तिशाली असुरों का वध किया । किसी बाहरी प्रयास से उनमें इतनी शक्ति आ जाने का प्रश्न ही नहीं उठता। उन्होंने भारोत्तोलन का कोई अभ्यास किए बिना, गोवर्धन पर्वत उठा लिया। उन्होंने किसी सामाजिक बन्धन तथा निन्दा का विचार किए बिना गोपियों के साथ रास रचाई। यद्यपि गोपियाँ उनके पास काम-भाव से पहुँचीं, तथापि गोपियों तथा श्रीकृष्ण के सम्बन्ध की पूजा भगवान चैतन्य तक ने की जो कठोर संन्यासी थे तथा अनुशासन के नियमों के कट्टर पालक थे। श्री ईशोपनिषद् में भी इस बात की पुष्टि करने के लिए कि भगवान सदैव शुद्ध और अदूषित हैं, उन्हें शुद्धम् तथा अपापविद्धम् कह कर वर्णन किया गया है। वे इस दृष्टि से शुद्ध हैं कि यदि कोई अशुद्ध वस्तु भी उनका स्पर्श कर ले तो वह शुद्ध हो जाती है। अपापविद्धम् शब्द उनके संसर्ग की शक्ति को बताने वाला है। जैसाकि *भगवद्गीता* में (९.३०-३१) कहा गया है कि भक्त प्रारम्भ में सुदुराचार अर्थात् उत्तम आचार से रहित प्रतीत हो सकता है लेकिन उसे शुद्ध मानना होगा क्योंकि वह सही मार्ग पर है। यह भगवान की संगति की अपापविद्धम् प्रकृति के कारण है। भगवान अपापविद्धम् हैं क्योंकि पाप उन्हें छू भी नहीं सकता। यदि वे इस तरह के कार्य करते भी हों जो पापपूर्ण लगें तो उनके ऐसे कर्म भी शुभ होते हैं क्योंकि पाप द्वारा उनके प्रभावित होने का प्रश्न ही नहीं उठता । चूँकि वे सभी परिस्थितियों में शुद्धम् हैं अतएव उनकी तुलना बहुधा सूर्य से की जाती है। सूर्य पृथ्वी के अनेक अस्पृश्य स्थानों से आर्द्रता निकालता है फिर भी वह शुद्ध बना रहता है। निस्सन्देह, वह अपनी कीटाणुनाशक शक्ति से दुर्गंध वाली वस्तुओं को शुद्ध करता है। यदि सूर्य, जो कि भौतिक वस्तु है, इतना शक्तिमान हो सकता है, तो हम सर्वशक्तिमान भगवान की शुद्ध करने की शक्ति की कल्पना भी नहीं कर सकते। ■

मंत्र ९

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः ॥९॥

अन्धम्-निपट अज्ञान; तमः-अँधेरा; प्रविशन्ति- प्रवेश करते हैं; ये-जो; अविद्याम्-अविद्या की; उपासते- पूजा करते हैं; ततः-उससे; भूयः-और अधिक; इव-सदृश; ते-वे; तमः-अंधकार; ये-जो; उ-भी; विद्यायाम्-ज्ञान अनुशीलन में; रताः-लगे हुए।

अनुवाद

जो लोग अविद्यापूर्ण कार्यकलापों के अनुशीलन में लगे हुए हैं, वे अज्ञान के गहनतम क्षेत्र में प्रवेश करेंगे। इनसे भी निकृष्ट वे हैं, जो तथाकथित ज्ञान के अनुशीलन में लगे हुए हैं।

तात्पर्य

इस मंत्र में विद्या तथा अविद्या का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। अविद्या निस्सन्देह घातक है लेकिन विद्या उससे भी अधिक घातक होती है यदि वह दिग्भ्रमित हो। श्री ईशोपनिषद् का यह मंत्र विगतकाल की अपेक्षा आज अत्यधिक लागू होता है। आधुनिक सभ्यता जन-शिक्षा के क्षेत्र में काफी आगे बढ़ गई है लेकिन परिणाम यह है कि लोग पहले से अधिक दुखी हैं क्योंकि जीवन के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग अर्थात् आध्यात्मिक पहलू को छोड़ कर, भौतिक प्रगति पर बल दिया जा रहा है |

जहाँ तक विद्या का सम्बन्ध है, पहले मंत्र से स्पष्ट है कि भगवान प्रत्येक वस्तु के स्वामी हैं और इस तथ्य को भुलाना ही अविद्या है। मनुष्य जितना ही जीवन के इस तथ्य को भूलता है, उतना ही अधिक वह अंधकार में रहता है। इस दृष्टि से तथाकथित शिक्षा की प्रगति की ओर उन्मुख ईश्वर विहीन विद्या अधिक घातक है अपेक्षाकृत उस सभ्यता के जिसमें सामान्य जनता कम "शिक्षित" है ।

मनुष्यों के विभिन्न वर्ग हैं-कर्मी, ज्ञानी तथा योगी। इनमें से कर्मी वे हैं, जो इन्द्रियतृप्ति के कार्यों में व्यस्त रहते हैं। आधुनिक सभ्यता में प्राय: ९९.९ प्रतिशत लोग उद्योगवाद, आर्थिक विकास, परोपकार, राजनैतिक सक्रियतावाद इत्यादि के नाम पर इन्द्रियतृप्ति के कार्यों में लगे हुए हैं। ये सभी कार्य बहुत कुछ इन्द्रियतृप्ति पर आधारित है जिनमें, प्रथम मंत्र में वर्णित ईश-चेतना सम्मिलित नहीं है।

भगवद्गीता के मत में (७.१५) ऐसे लोग जो निपट इन्द्रियतृप्ति में लगे रहते हैं, मूढ़ या गधे हैं। गधा मूढ़ता का प्रतीक है। जो लोग इन्द्रियतृप्ति की व्यर्थ खोज में लगे रहते हैं, वे *श्रीईशोपनिषद्* के अनुसार अविद्या की पूजा कर रहे हैं। जो लोग शिक्षा के विकास के नाम पर इस प्रकार की सभ्यता की सहायता कर रहे हैं, वे वास्तव में उन लोगों की अपेक्षा अधिक हानि पहुँचा रहे हैं, जो निपट इन्द्रियतृप्ति के पद पर आसीन हैं। ईश-विहीन लोगों के द्वारा विद्या की प्रगति उतनी ही भयावह है जितनी कि सर्प के फन की बहुमूल्य मणि होती है। मणि से विभूषित सर्प मणिविहीन सर्प से अधिक घातक होता है। *हरिभक्ति सुधोदय* (३.११.१२) में ईश्वर विहीन लोगों द्वारा शिक्षा की उन्नति की तुलना शव के श्रृंगार से की गई है। भारत में अनेक अन्य देशों के ही समान कुछ लोग शोकसंतप्त सम्बन्धियों को प्रसन्न करने के लिए शव को सजाकर शवयात्रा निकालने की प्रथा का अनुसरण करते हैं। इसी प्रकार आधुनिक सभ्यता के कार्यकलाप भौतिक जगत के नित्य दुखों को ढकने के लिए पैबंद लगाने के समान है। ऐसे सभी कार्य इन्द्रियतृप्ति को लक्ष्य बनाकर किए जाते हैं लेकिन इन्द्रियों के ऊपर मन है और मन के ऊपर बुद्धि और बुद्धि के ऊपर आत्मा है । इस तरह असली शिक्षा का उद्देश्य आत्म-साक्षात्कार अर्थात् आत्मा के आध्यात्मिक मूल्यों की अनुभूति करना होना चाहिए। कोई भी शिक्षा जो ऐसी अनुभूति को प्राप्त नहीं करवा पाती, अविद्या मानी जानी चाहिए। ऐसी विद्या के पल्लवन का अर्थ अज्ञान के गहन गर्त में जाना है।

भगवद्गीता (२.४२, ७.२५) के अनुसार भ्रान्त संसारी शिक्षक, वेदवादरत तथा *माययापहृत-ज्ञान* के रूपों में जान जाते हैं। वे नास्तिक असुर-नराधम- भी हो सकते है। वेदवादरत अपने को वैदिक साहित्य में प्रकाण्ड विद्वान मानते हैं लेकिन दुर्भाग्यवश वे वेदों के लक्ष्य से पूर्णतया विपथ रहते हैं। भगवद्गीता में (१५.१५) कहा गया है कि वैदिक लक्ष्य तो भगवान को जानना है। लेकिन वेदवादरत लोग भगवान् में बिल्कुल रुचि नहीं लेते। उल्टे वे स्वर्ग की प्राप्ति जैसे सकाम कर्मों के प्रति मोहित रहते हैं।

जैसा कि मंत्र १ में कहा जा चुका है, हमें यह जानना चाहिए कि श्री भगवान हर वस्तु के स्वामी हैं और हमें जीवन की आवश्यकताओं के लिए प्राप्त नियत अंश से तुष्ट होना चाहिए। समस्त वैदिक साहित्य का उद्देश्य भुलक्कड़ जीव में इस ईश चेतना को जाग्रत करना है और यही लक्ष्य विविध प्रकार से संसार के विभिन्न शास्त्रों में मूर्ख मानव के समझने के लिए प्रस्तुत किया जाता है। इन सारे पंथों का चरम लक्ष्य है मनुष्य को भगवद्धाम वापस ले जाना।

किन्तु वेदवादरत लोग वेदों के तात्पर्य को जोकि भुलक्कड़ जीव के भगवान् से विस्मृत सम्बन्ध को पुनः जाग्रत करना है, न समझ कर यह मान कर चलते हैं कि ऐसे गौण विषय वेदों के अन्तिम लक्ष्य हैं-यथा इन्द्रियों की तृप्ति के लिए स्वर्गिक आनन्द की प्राप्ति-यही कामभावना सर्वप्रथम भौतिक बंधन का कारण बनती है। ऐसे लोग वैदिक साहित्य की गलत व्याख्या करके अन्य लोगों को भ्रान्त करते हैं। कभी-कभी वे पुराणों की भी भर्त्सना करते हैं जब कि सामान्य लोगों के लिए ये पुराण प्रामाणिक वैदिक व्याख्याएँ हैं। वेदवादरत लोग

वेदों की अपनी व्याख्या करते हैं और आचार्यों के प्रमाण को उपेक्षा करते हैं। वे अपने ही बीच में से किसी कपटी व्यक्ति को ऊपर उठाकर उसे वैदिक ज्ञान का अग्रणी बताकर प्रचार करते हैं। ऐसे लोगों की भर्त्सना इस मंत्र में विद्यायां रताः जैसे उपयुक्त संस्कृत शब्द के द्वारा विशेष तौर पर की गई है । विद्यायां का अर्थ है वेदाध्ययन क्योंकि वेद ही ज्ञान के मूल हैं तथा रता: का अर्थ है लगे हुए । इस प्रकार विद्यायां रता: का अर्थ हुआ वेदों के अध्ययन में लगे हुए। यहाँ पर वेदों के तथाकथित विद्यार्थियों की भर्त्सना की गई है क्योंकि वे आचार्यों की आज्ञा का उल्लघंन करने के कारण वेदों के वास्तविक प्रयोजन को नहीं जानते। ऐसे वेदवादरत वेदों के प्रत्येक शब्द का ऐसा अर्थ ढूढँते हैं, जो उनके प्रयोजनों के अनुकूल हो । वे यह नहीं जानते कि वैदिक साहित्य साधारण ग्रन्थों का संग्रह है जिन्हें शिष्य-परम्परा की श्रंखला द्वारा ही समझा जा सकता है।

वेदों के दिव्य सन्देश को समझने लिए प्रामाणिक गुरु के पास जाना होता है। यह मुण्डक उपनिषद् (१.२.१२) का निर्देश है। लेकिन इन वेदवादरतों के अपने ही आचार्य होते हैं, जो दिव्य परम्परा की श्रंखला में नहीं होते। इस प्रकार वे वैदिक साहित्य की मनमानी व्याख्या करके अज्ञान गहनतम प्रक्षेत्र की ओर चले जाते हैं। वे उन लोगों से भी अधिक गहरे अज्ञान में गिरते हैं, जिन्हें वेदों का तनिक भी ज्ञान नहीं है।

माययापह्वत ज्ञान श्रेणी के लोग स्वनिर्मित ईश्वर (देवता) होते हैं। ऐसे लोग अपने आपको ईश्वर मानते हैं और उनके अनुसार किसी अन्य ईश्वर को पूजने की आवश्यकता नहीं होती। यदि कोई धनी व्यक्ति हुआ तो वे उसके सामान्य पुरुष होने पर उसकी पूजा करना स्वीकार कर लेते हैं लेकिन कभी ईश्वर की पूजा नहीं करेंगे। ऐसे लोग अपनी मूर्खता को न पहचान पाने के कारण कभी नहीं सोचते कि भला ईश्वर कहीं माया से बँधता है। यदि ईश्वर कभी माया से बँधा होता तो माया ईश्वर से अधिक शक्तिशाली हुई होती। ऐसे लोग कहते हैं कि ईश्वर सर्वशक्तिमान है। लेकिन वे यह नहीं सोचते कि यदि ईश्वर सर्वशक्तिमान है, तो माया से उसके परास्त होने की कोई संभावना नहीं है। ये स्वनिर्मित भगवान इन सारे प्रश्नों का स्पष्ट उत्तर नहीं दे पाते; वे केवल ईश्वर बने रहने में प्रसन्न रहते हैं। ■

मंत्र १०

अन्यदेवाहुर्विद्ययान्यदाहुरविद्यया ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद् विचचक्षिरे॥१०॥

अन्यत्-भिन्न; एव-निश्चय ही; आहु:- कहा; विद्यया-ज्ञान के सेवन से; अन्यत्-भिन्न; आहुः-कहा; अविद्यया-अज्ञान के सेवन से; इति-इस प्रकार; शुश्रुम मैंने सुना; धीराणाम्-धीर व्यक्तियों से; ये-जो; न:-हमसे; तत्-वह; विचचक्षिरे-वर्णन किया।

अनुवाद

मनीषियों ने बताया है कि ज्ञान के सेवन से जो फल प्राप्त होता है, वह अज्ञान के सेवन से प्राप्त फल से भिन्न होता है।

तात्पर्य

जैसाकि *भगवद्गीता* के तेरहवें अध्याय में (१३.८-१२) उपदेश दिया गया है मनुष्य को निम्नलिखित विधि से ज्ञान का सेवन करना चाहिए :

(१) स्वयं भद्रपुरुष बन कर अन्यों का समुचित सम्मान करना सीखना चाहिए।

(२) केवल नाम तथा यश के लिए कभी धर्मात्मा का स्वांग नहीं करना चाहिए।

(३) अपने शरीर के कार्यों, अपने मन के विचारों या अपने वचनों से कभी दूसरों की परेशानियों का कारण नहीं बनना चाहिए।

(४) अन्यों के द्वारा उकसाये जाने पर भी धैर्य बनाये रखना सीखना चाहिए।

(५) अन्यों के साथ व्यवहार में छल करने से बचना सीखना चाहिए।

(६) ऐसा प्रामाणिक गुरु खोजना चाहिए जो क्रमश: आध्यात्मिक अनुभूति की अवस्था तक ले जा सके। ऐसे गुरु का शरणागत बनकर, उसकी सेवा करनी चाहिए और यथावश्यक प्रश्न पूछने चाहिए।

(७) आत्म-साक्षात्कार के पद तक पहुँचने के लिए शास्त्रों द्वारा आदिष्ट विधिविधान का पालन करना चाहिए।

(८) शास्त्रों के सिद्धान्तों में दृढ़ रहना चाहिए।

(९) आत्म-साक्षात्कार में बाधक आदतों को पूर्णतया छोड़ देना चाहिए।

(१०) शरीर के पालन के लिए आवश्यकता से अधिक ग्रहण नहीं करना चाहिए।

(११) न तो स्थूल देह को अपना स्व मानना चाहिए, न ही इस शरीर से सम्बन्धित लोगों को अपना मानना चाहिए।

(१२) सदैव स्मरण रखना चाहिए कि जब तक भौतिक शरीर है तब तक जन्म, जरा, मृत्यु तथा व्याधि को भोगना पड़ेगा। देह के इन कष्टों से छुटकारा पाने के लिए योजना बनाने से कोई लाभ नहीं है। सर्वोत्तम मार्ग यही है कि उस साधन की खोज की जाये जिससे आध्यात्मिक स्वरूप पुनः प्राप्त हो सके।

(१३) आध्यात्मिक उन्नति के लिए जीवन की जितनी आवश्यकताएँ हैं उनसे अधिक के प्रति आसक्ति नहीं होनी चाहिए।

(१४) स्त्री, सन्तान तथा घर के प्रति शास्त्रों की आज्ञा से अधिक आसक्त नहीं होना चाहिए।

(१५) मन द्वारा उत्पन्न इष्ट व अनिष्ट की भावनाओं से सुखी या दुखी नहीं होना चाहिए।

(१६) भगवान् श्रीकृष्ण का अनन्य भक्त बनना चाहिए तथा पूर्ण मनोयोग से उनकी सेवा करनी चाहिए।

(१७) शान्त वातावरण में किसी ऐसे निर्जन स्थान में रहने की रुचि उत्पन्न करना चाहिए जो आध्यात्मिक संस्कृति के अनुकूल हो। जहाँ अभक्तों का प्राधान्य हो उन स्थानों से बचना चाहिए।

(१८) वैज्ञानिक या दार्शनिक बन कर आध्यात्मिक ज्ञान के विषय में शोध करनी चाहिए और यह मानना चाहिए कि आध्यात्मिक ज्ञान स्थायी है जबकि भौतिक विज्ञान शरीर की मृत्यु के साथ ही समाप्त हो जाता है।

ये अठारह बातें मिलकर एक क्रमिक प्रक्रिया का निर्माण करती हैं जिसके द्वारा असली ज्ञान विकसित किया जा सकता है। लेकिन इससे भिन्न अन्य सारी विधियाँ अविद्या की कोटि में मानी जाती हैं। महान् आचार्य श्रील भक्तिविनोद ठाकुर का मत व्यक्त किया है कि भौतिक ज्ञान के सारे भेद माया के बाह्य स्वरूप मात्र हैं और इनके सेवन से कोई भी व्यक्ति एक गधे से बेहतर नहीं बन पाता। यही सिद्धांत श्री ईशोपनिषद् में भी पाया जाता है। भौतिक विज्ञान की प्रगति से आधुनिक पुरुष गधा बनता जा रहा है। कतिपय भौतिकतावादी राजनीतिज्ञ अध्यात्म के बहाने सभ्यता की वर्तमान पद्धति को आसुरी बताकर उसकी निन्दा करते हैं। लेकिन दुर्भाग्यवश वे वास्तविक ज्ञान के अनुशीलन के विषय में परवाह नहीं करते जैसाकि भगवद्गीता में वर्णन हुआ है। इस प्रकार वे आसुरी परिस्थिति को नहीं बदल सकते।

आधुनिक समाज में एक बालक भी अपने को आत्मनिर्भर समझता है और अपने गुरुजनों का तनिक भी सम्मान नहीं करता। हमारे विश्वविद्यालयों में त्रुटिपूर्ण शिक्षा प्रदान किये जाने से विश्व भर के लड़के गुरुजनों के लिए सिरदर्द बने हुए हैं। इस प्रकार *श्रीईशोपनिषद्* दृढ़-भाव से चेतावनी देती है कि विद्या की संस्कृति विद्या (ज्ञान) से भिन्न है।

यह कहा जा सकता है कि विश्वविद्यालय अविद्या के ही केन्द्र हैं: फलस्वरूप विज्ञानीजन अन्य देशों का नामोनिशान मिटा देने के लिए घातक अस्त्रों की खोज करने में व्यस्त हैं। इस समय विश्वविद्यालय के छात्रों को न तो ब्रह्मचर्य के अनुष्ठानों की शिक्षा दी जाती है न ही शास्त्रीय आदेशों में उनकी श्रद्धा रह गई है। धर्म की शिक्षा केवल नाम तथा यश के लिए दी जाती है, व्यवहार में लाने के लिए नहीं। इस प्रकार न केवल सामाजिक तथा राजनीतिक क्षेत्रों में अपितु धर्म के क्षेत्र में भी मनोमालिन्य व्याप्त है।

जनसामान्य द्वारा अविद्या के अनुशीलन के फलस्वरूप संसार के विभिन्न भागों में राष्ट्रीयता का विकास हुआ है। कोई भी यह नहीं सोचता कि यह छोटी सी पृथ्वी पदार्थों का एक पिंड है, जो अन्य अनेक पिंडों के साथ-साथ असीम अन्तरिक्ष में तैर रहा है। अन्तरिक्ष की व्यापकता की तुलना में ये भौतिक पिंड वायु में धूलकणों के समान है। चूँकि ईश्वर ने कृपापूर्वक इन पदार्थ-पिण्डों को अपने में पूर्ण बनाया है कि वे अन्तरिक्ष में तैरते रहने के लिए समस्त आवश्यकताओं से पूरी तरह युक्त हैं। हमारे अन्तरिक्षयानों के चालक अपनी उपलब्धियों पर भले ही इतरा लें लेकिन वे लोक कहलाने वाले इन विशाल, अत्यधिक विराट अन्तरिक्षयानों के परम चालक के विषय में विचार नहीं करते।

सूर्य असंख्य हैं और लोक मण्डल भी असंख्य हैं। परमेश्वर के सूक्ष्मतर अंश के रूप में हम क्षुद्र प्राणी इन असीम लोकों पर अपना आधिपत्य जमाना चाहते हैं। इस प्रकार हम बारम्बार जन्म लेते हैं और मरते हैं। और सामान्यतया हम बुढ़ापे तथा रोग से निराश हो जाते हैं। मनुष्य की आयु लगभग सौ वर्ष निश्चित है यद्यपि यह धीरे-धीरे घट कर बीस-तीस वर्ष तक पहुँच रही है। भला हो अविद्या की संस्कृति का, मूर्ख लोगों ने इन लोकों के भीतर अपने-अपने राष्ट्र बना रखे हैं ताकि वे इन कुछ वर्षों तक अधिक प्रभावी ढंग से इन्द्रियभोग कर सकें। ऐसे मूर्ख लोग अच्छी तरह राष्ट्रीय हदबन्दी तैयार करने की विविध योजनाएँ बना रहे हैं, जो कार्य पूर्ण-रूपेण असम्भव है। । इस कार्य के लिए प्रत्येक राष्ट्र अन्य राष्ट्रों के लिए सरदर्द बना हुआ है। किसी राष्ट्र की पचास प्रतिशत से अधिक शक्ति सुरक्षा साधनों में लगी होने के कारण व्यर्थ चली जाती है। वास्तविक ज्ञान के अनुशीलन की कोई परवाह नहीं करता। फिर भी लोगों को भौतिक तथा आध्यात्मिक ज्ञान में उन्नति करने का झूठा गर्व है।

श्री ईशोपनिषद् इस प्रकार की दोषपूर्ण शिक्षा से हमें सचेत करती है और भगवद्गीता असली ज्ञान के विकास हेतु उपदेश देती है। इस मंत्र में इस बात का संकेत है कि विद्या का उपदेश किसी धीर व्यक्ति से लेना चाहिए। धीर वह है, जो भौतिक मोह से विचलित नहीं होता। पूर्णरूपेण आध्यात्मिक साक्षात्कार किए बिना कोई भी व्यक्ति अविचल नहीं रह सकता। साक्षात्कार होने पर वह न तो किसी वस्तु के लिए आकाँक्षा करता है, न शोक करता है। धीर व्यक्ति अनुभव करता है कि भौतिक संपर्क से भाग्यवश उसने जो भौतिक देह तथा मन प्राप्त किए हैं, वे सब बाहरी तत्त्व हैं; अतएव वह मात्र इस बुरे सौदे का अच्छा उपयोग करता है।

आध्यात्मिक जीवात्मा के लिए भौतिक शरीर तथा मन बुरे सौदे हैं। जीव का वास्तविक कार्य तो चेतन आध्यात्मिक जगत में है, किन्तु यह भौतिक जगत मृत (जड़) है। जब तक सजीव आध्यात्मिक स्फुलिंग पदार्थ के निर्जीव पिंडों को अपने अनुरूप ढालते रहते हैं, तब तक यह जड़ जगत सजीव (चेतन) जान पड़ता है। वास्तव में परम पुरुष की अंशरूप जीवात्माएँ ही जगत को गतिमान बनाती हैं। धीर व्यक्तियों ने अपने श्रेष्ठ आचार्यों से सुनकर इन तथ्यों को जान लिया है और नियमों का पालन करके इस ज्ञान को अनुभव कर लिया है।

विधि-विधानों के पालन के लिए मनुष्य को प्रामाणिक गुरु की शरण ग्रहण करनी चाहिए। दिव्य संदेश तथा विधि विधान शिष्य को गुरु से प्राप्त होते हैं। ऐसा ज्ञान अविद्यामयी शिक्षा के संकटपूर्ण मार्ग से नहीं आता है। भगवान के सन्देशों को प्रामाणिक गुरु से विनीत भाव से सुनकर ही कोई धीर बन सकता है। उदाहरणार्थ भगवान कृष्ण से विनीत भाव से सुनकर ही अर्जुन धीर बना। पूर्ण शिष्य को अर्जुन की तरह होना चाहिए और गुरु को साक्षात भगवान के समान होना चाहिए। यही है धीर से विद्या सीखने की विधि।

अधीर (जिसने धीर का प्रशिक्षण नहीं लिया) कभी शिक्षा देने वाला अगुवा नहीं बन सकता। आधुनिक राजनीतिज्ञ, जो अपने को धीर दिखाने का स्वाँग भरते हैं, वास्तव में अधीर हैं और उनसे पूर्ण ज्ञान की आशा नहीं की जा सकती। वे तो रुपये-पैसों के रूप में अपना पारिश्रमिक तय करने में ही व्यस्त रहते हैं। तो वे जनता को आत्म-साक्षात्कार के सही पथ तक किस प्रकार ले जा सकते हैं ? अतएव वास्तविक शिक्षा प्राप्त करने के लिए मनुष्य को धीर के मुख से विनीत भाव से सुनना चाहिए। ■

मंत्र ११

विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते॥११॥

विद्याम् -असली ज्ञान को; च-और; अविद्याम् - अविद्या को; च-तथा; यः- जो व्यक्ति; तत्-वह; वेद- जानता है; उभयम्-दोनों; सह-एक ही समय; अविद्यया-अज्ञान के सेवन से; मृत्युम् -बारम्बार आने वाली मृत्यु को; तीर्त्वा-पार करके; विद्यया-ज्ञान से; अमृतम् अमरता; अश्नुते-भोगता है।

अनुवाद

जो अविद्या की कार्य प्रक्रिया तथा दिव्य ज्ञान (विद्या) को साथ-साथ सीख सकता है केवल वही बारम्बार जन्म मृत्यु के प्रभाव को पार कर सकता है और अमरता के पूर्ण वरदान का भोग कर सकता है।

तात्पर्य

भौतिक जगत की सृष्टि के समय से ही प्रत्येक जीव स्थायी जीवन प्राप्त करने का प्रयास करता रहा है, लेकिन प्रकृति के नियम इतने क्रूर हैं कि कोई भी मृत्यु से बच नहीं सका है। कोई मरना नहीं चाहता, न ही कोई बूढ़ा होना या बीमार रहना चाहता है किन्तु प्रकृति का नियम किसी को मृत्यु, बुढ़ापे या रोग से छूट प्रदान नहीं करता। न ही भौतिक ज्ञान की प्रकृति ने इन समस्याओं को हल किया है। भले ही भौतिक विज्ञान मृत्यु की प्रक्रिया को त्वरित करने के लिए परमाणु बम खोज निकाले लेकिन वह रोग, बुढ़ापे तथा मृत्यु के क्रूर हाथों से मनुष्य की रक्षा करने के लिए कुछ भी नहीं खोज सकता।

पुराणों से हम हिरण्यकशिपु के कार्यकलापों के विषय में जानते हैं. जो भौतिक दृष्टि से अत्यन्त समुन्नत राजा था। अपनी भौतिक उपलब्धियों तथा अपनी अविद्या की शक्ति के बल पर क्रूर मृत्यु को जीतने की इच्छा से उसने एक प्रकार के ध्यान योग को संपन्न किया जो इतना कठिन था कि उसकी योगशक्ति से सारे लोकों के निवासी विचलित हो उठे। उसने ब्रह्माण्ड के स्रष्टा ब्रह्माजी को अपने पास पृथ्वी पर नीचे उतरने के लिए बाध्य कर दिया। तब उसने ब्रह्मा से अमर होने का वरदान माँगा, जिससे कोई कभी नहीं मरता है। ब्रह्माजी ने कहा कि वे उसे यह वरदान नहीं दे सकते क्योंकि यद्यपि वे स्वयं स्रष्टा हैं और समस्त लोकों पर शासन करने वाले हैं, किन्तु वे अमर नहीं हैं। जैसी कि भगवद्गीता से (८.१७) पुष्टि होती है, ब्रह्माजी दीर्घकाल तक जीवित रहते हैं, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि वे अमर हैं।

हिरण्य का अर्थ है सोना तथा कशिपु का अर्थ है मुलायम बिस्तर। ये धूर्त महाशय हिरण्यकशिपु धन तथा स्त्री इन्हीं दो वस्तुओं में रुचि रखते थे और अमर होकर इन्हीं का भोग करना चाहते थे। उसने अमर होने की अप्रत्यक्ष रूप से इच्छापूर्ति की आशा में ब्रह्माजी से कई वरदान माँगे। चूँकि ब्रह्माजी ने उससे कह दिया कि वे उसे अमरता का वरदान नहीं दे सकते, अतएव हिरण्यकशिपु ने उनसे प्रार्थना की कि मैं किसी मनुष्य, पशु, देवता या चौरासी लाख योनियों के अन्तर्गत किसी जीव के द्वारा न मारा जाऊँ। उसने यह भी प्रार्थना की कि मैं न तो पृथ्वी पर, न जल में, न ही किसी हथियार से मरूँ इस तरह मूर्खतावश हिरण्यकशिपु ने सोचा कि इन आश्वासनों से वह मृत्यु से बच जाएगा। किन्तु ब्रह्मा द्वारा ये सारे वरदान दिए जाने पर भी अन्ततोगत्वा भगवान ने नृसिंह (अर्ध-मानव, अर्ध-सिंह) के रूप में उसका वध कर दिया। उन्होंने उसे मारने के लिए किसी हथियार का उपयोग नहीं किया; केवल अपने नाखूनों से उसे मार डाला। उसकी मृत्यु न तो पृथ्वी पर हुई, न वायु में, न जल में क्योंकि वह ऐसे अद्‌भुत जीव की गोद में मारा गया जो उसकी कल्पना के परे था।

कुल मिलाकर यहाँ पर यही बात कहनी है कि हिरण्यकशिपु जैसा अत्यन्त शक्तिशाली भौतिकतावादी भी अपनी विविध योजनाओं से मृत्यु रहित नहीं बन सका। तो फिर आज के क्षुद्र हिरण्यकशिपु भला क्या कर सकते हैं जिनकी योजनाओं का प्रतिक्षण गला घुटता रहता है ?

श्री ईशोपनिषद् जीवन संघर्ष को जीतने के लिए एकांगी प्रयास न करने की शिक्षा देता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने अस्तित्व के लिए कठोर संघर्ष कर रहा है लेकिन प्रकृति के नियम इतने कड़े और सटीक होते हैं कि वे किसी को उनका उल्लंघन नहीं करने देते। स्थायी जीवन प्राप्त करने के लिए मनुष्य को भगवदधाम वापस जाने के लिए तैयार रहना चाहिए।

जिस विधि से भगवान के पास वापस जाया जाता है, वह ज्ञान की एक अलग शाखा है और इसे उपनिषदों, वेदांत सूत्र, भगवद गीता, श्रीमद्भागवत जैसे वैदिक शास्त्रों से सीखना पड़ता है। इस जीवन में सुखी रहने तथा इस भौतिक शरीर को त्यागने के बाद स्थायी आनन्दमय जीवन प्राप्त करने के लिए मनुष्य को यह पवित्र साहित्य पढ़ना चाहिए और दिव्य ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। बद्ध जीव ईश्वर के साथ अपने नित्य सम्बन्ध को भूल चुका है और उसने गलती से अपने अस्थायी जन्म स्थान को ही सर्वस्व मान लिया है। भगवान ने कृपा करके भारत में उपर्युक्त शास्त्र तथा अन्य देशों में अन्य शास्त्र प्रदान किए हैं जिससे भुलक्कड़ मानव को स्मरण दिलाया जा सके कि उसका घर इस भौतिक जगत में नहीं है। जीव एक आध्यात्मिक प्राणी है और वह अपने आध्यात्मिक घर को लौट कर ही सुखी हो सकता है।

भगवान अपने प्रामाणिक दासों को अपने धाम से अपने इस सन्देश का प्रसार करने के लिए भेजते हैं, जिससे मनुष्य भगवान् के पास लौट सके और कभी-कभी तो भगवान् यह कार्य करने के लिए स्वयं आते हैं। चूँकि सारे जीव उनकी प्रिय संतान हैं, उनके अंश रूप है. अतएव इस संसार में हमें लगातार मिलने वाले कष्टों को देखकर हमारी अपेक्षा ईश्वर अधिक दुखी होते हैं। इस संसार के कष्ट हमें अप्रत्यक्ष रूप से जड पदार्थ से हमारी असंगतता की याद

दिलाते रहते हैं। बुद्धिमान जीव सामान्यतया इन चेतावनियों पर ध्यान देकर विद्या या दिव्य ज्ञान के सेवन में लग जाते हैं। आध्यात्मिक ज्ञान के सेवन के लिए मनुष्य-जीवन सर्वश्रेष्ठ अवसर है और जो मनुष्य इस सुअवसर का लाभ नहीं उठाता वह नराधम कहलाता है।

इन्द्रियतृप्ति के लिए भौतिक विज्ञान की प्रगति अर्थात् अविद्या का मार्ग बारम्बार जन्म तथा मृत्यु का मार्ग है। आध्यात्मिक अस्तित्व में जीव की जन्म या मृत्यु नहीं होती। जन्म तथा मृत्यु तो आत्मा के बाहरी आवरण अर्थात् शरीर पर लागू होते हैं। मृत्यु तो बाहरी वस्त्रों के उतारने के समान है और जन्म बाहरी वस्त्रों को धारण करने के समान है। मूर्ख मनुष्य अविद्या के सेवन में बुरी तरह लीन रहने के कारण इस क्रूर विधि की चिन्ता नहीं करते । माया के सौंदर्य से मोहित होकर वे बारम्बार उन्हीं कष्टों का शिकार होते रहते हैं और प्रकृति के नियमों से कोई शिक्षा ग्रहण नहीं कर पाते।

अत: विद्या अर्थात् दिव्य ज्ञान की संस्कृति मनुष्य के लिए अनिवार्य है। रुग्ण भौतिक दशा में इन्द्रियभोग को जहाँ तक संभव हो नियंत्रित रखना चाहिए। इस शारीरिक अवस्था में अबाध इन्द्रियतृप्ति ज्ञान तथा मृत्यु का मार्ग है। जीव आध्यात्मिक इन्द्रियों से विहीन नहीं है; प्रत्येक जीव अपने आदि आध्यात्मिक रूप में इन समस्त इन्द्रियों से युक्त होता है, जो शरीर तथा मन से आच्छादित होने के कारण अब भौतिक हो गई हैं। भौतिक इंद्रियों के कार्यकलाप मौलिक आध्यात्मिक लीलाओं के विकृत प्रतिबिम्ब है। आत्मा अपनी रुग्ण दशा में भौतिक आवरण के भीतर भौतिक कार्य में लगा रहता है। असली इन्द्रियभोग तभी सम्भव है जब भौतिकतावाद का रोग दूर हो जाता है। हमारे असली आध्यात्मिक रूप में जो समस्त भौतिक कल्मष से मुक्त है, इन्द्रियों का शुद्ध भोग कर पाना सम्भव है। वास्तव में इन्द्रिय-भोग कर पाने से पहले रोगी का स्वास्थ्य उपलब्ध करना आवश्यक है। अत: मनुष्य- जीवन का उद्देश्य विकृत इन्द्रियभोग नहीं है; मनुष्य को भौतिक रोग ठीक करने के लिए उत्सुक होना चाहिए। भौतिक रोग को बढ़ाना ज्ञान का संकेत नहीं है अपितु अविद्या या अज्ञान का सूचक है। अच्छे स्वास्थ्य के लिए मनुष्य को अपने शरीर का ताप १०५ से १०७ अंश (डिग्री) तक नहीं बढ़ाना चाहिए अपितु सामान्य ताप ९८.६ अंश तक रखना चाहिए। मनुष्य जीवन का यही लक्ष्य होना चाहिए।

भौतिक सभ्यता की आधुनिक प्रवृत्ति ज्वरग्रस्त भौतिक दशा के ताप को बढ़ाना है, जो परमाणु शक्ति के रूप में १०७ अंश तक पहुँचा हुआ है। इसी बीच मूर्ख राजनीतिज्ञ चिल्ला रहे हैं कि यह संसार किसी भी समय नरक को जा सकता है। यह भौतिक विज्ञान की प्रगति तथा अत्यधिक महत्त्वपूर्ण प्रकार के जीवन अर्थात् आध्यात्मिक ज्ञान की उपेक्षा का परिणाम है। *श्री ईशोपनिषद्* यहां पर सचेत करता है कि हमें इस घातक पथ पर नहीं चलना चाहिए जो हमें मृत्यु तक ले जाता है। इसके विपरीत, हमें आध्यात्मिक ज्ञान की संस्कृति का विकास करना चाहिए जिससे हम मृत्यु के क्रर हाथों से पूर्णतया मुक्त हो सके।

इसका अर्थ यह भी नहीं है कि शरीर के पालन के सारे कार्यों को रोक दिया जाये। कार्यकलापों को रोकने का प्रश्न ही नहीं उठता, जिस प्रकार कि रोग ठीक होने के प्रयत्न का अर्थ यह नहीं होता कि अपने ताप को पूर्णतया मिटा दिया जाये। "बुरे सौदे का सर्वोत्तम

उपयोग करना," सही कथन है। आध्यात्मिक ज्ञान की संस्कृति को इस शरीर तथा मन की सहायता की आवश्यकता होती है, अतः अपने लक्ष्य पर पहुँचने के लिए शरीर और मन को बनाए रखना आवश्यक है। सामान्य ताप को ९८.६ अंश पर रखना चाहिए। भारत के साधु-सन्तों ने इसे आध्यात्मिक तथा भौतिक विज्ञान के संतुलित कार्यक्रम द्वारा सम्पन्न करने का प्रयास किया है। वे किसी भी रुग्ण इन्द्रियतृप्ति के लिए मानवी बुद्धि के दुरुपयोग की अनुमति नहीं देते।

इन्द्रियतृप्ति की ओर उन्मुख प्रवृत्ति के द्वारा किये जा रहे रुग्ण मानवीय कार्यकलापों का नियमन वेदों में मोक्ष के सिद्धांतों के अन्तर्गत किया गया है। इस पद्धति में धर्म, आर्थिक विकास, इन्द्रियतृप्ति तथा मोक्ष का उपयोग होता है, लेकिन आज के समय लोगों में धर्म या मोक्ष के प्रति बिल्कुल रुचि नहीं है। जीवन में उनका एक ही लक्ष्य है- इन्द्रियतृप्ति-और इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए वे आर्थिक विकास की योजना बनाते हैं। पथभ्रष्ट लोग सोचते हैं कि धर्म को बनाए रखना चाहिए क्योंकि आर्थिक विकास में इसका योगदान है, जिसकी आवश्यकता इन्द्रियतृप्ति में पड़ती है। इस प्रकार मृत्यु के पश्चात् स्वर्ग में भी इन्द्रियतृप्ति को सुनिश्चित बनाये रखने के लिए कोई न कोई धार्मिक कर्मकांड पद्धति रहती है किन्तु धर्म का प्रयोजन यह नहीं है। धर्म का मार्ग वास्तव में आत्म-साक्षात्कार के लिए है और आर्थिक विकास शरीर को सुचारू एवं स्वस्थ बनाए रखने के लिए है। मनुष्य को विद्या या वास्तविक ज्ञान की अनुभूति के लिए जो कि मनुष्य जीवन का लक्ष्य है स्वस्थ मन से स्वस्थ जीवन बिताना चाहिए। यह जीवन गधे की तरह काम में जुटे रहने या इन्द्रियतृप्ति के लिए अविद्या का अनुशीलन करने के लिए नहीं मिला है।

विद्या का मार्ग पूरी तरह से *श्रीमद् भागवत* में प्रस्तुत किया गया है, जो मनुष्य का परम सत्य की खोज में अपने जीवन का सदुपयोग करने का आदेश देता है। परम सत्य की अनुभूति क्रमश: 'ब्रह्म', 'परमात्मा' तथा अंत में ‘भगवान्' अर्थात् पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान के रूप में होती है परम सत्य की अनुभूति ऐसे विशाल-हृदय व्यक्ति को होती है, जिसने उपयुक्त दसवें मंत्र के तात्पर्य में वर्णित *भगवद्गीता* के अठारह सिद्धान्तों का पालन करते हुए ज्ञान तथा वैराग्य को प्राप्त कर लिया है। इन अठारहों सिद्धान्तों का मुख्य सार पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान की दिव्य भक्ति प्राप्त करना है। अतएव सभी वर्गों के व्यक्तियों को भगवान की भक्तिमय सेवा की कला सीखने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है।

विद्या के लक्ष्य का निश्चित मार्ग श्रील रूप गोस्वामी द्वारा अपनी पुस्तक भक्तिरसामृतसिन्धु में वर्णित है. जिसे हमनें अंग्रेजी में The Nectar of Devotion के शीर्षक से प्रकाशित किया है। *श्रीमद्भागवत* (१.२.१४) में विद्या की संस्कृति को निम्नलिखित शब्दों में संक्षिप्त रूप में दिया गया है।

तस्मादेकेन मनसा भगवान् सात्वतां पतिः।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च ध्येयः: पूज्यश्च नित्यदा।।

"अतएव मनुष्य को उन पुरुषोत्तम भगवान का निरन्तर श्रवण, यशोगान, स्मरण तथा पूजन करना चाहिए, जो भक्तों के रक्षक हैं।"

जब तक धर्म, आर्थिक विकास तथा इन्द्रियतृप्ति का लक्ष्य भगवद्भक्ति की प्राप्ति नहीं होता, तब तक वे अविद्या के ही विभिन्न रूप होते हैं, जैसाकि श्री *ईशोपनिषद्* के अगले मंत्रों से सूचित होता है। ■

मंत्र १२

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्यां रताः ॥१२॥

अन्धं-अज्ञान; तमः-अंधकार; प्रविशन्ति-प्रवेश करते हैं; ये-जो; असम्भूतिम्-देवताओं की; उपासते पूजा करते हैं; ततः- उसकी अपेक्षा; भूयः-और अधिक इव-उसके सदृश; ते-वे; तमः-अंधकार में; ये-जो; उ-भी; सम्भूत्याम्-ब्रह्म में; रताः-लगे हुए।

अनुवाद

जो देवताओं की पूजा में लगे हैं, वे अज्ञान के गहनतम क्षेत्र में प्रवेश करते हैं और इनसे भी बढ़कर वे जो निराकार ब्रह्म के पूजक है।

तात्पर्य

संस्कृत का शब्द 'असम्भूति' उन व्यक्तियों का सूचक है जिनका स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। 'सम्भूति' तो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान है, जो पूर्णतया स्वतंत्र है। भगवद्गीता में (१०.२) पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं :

न मे विदुः सुरगणा: प्रभवं न महर्षयः ।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः:॥

"न तो देवगण, न ही महर्षिजन मेरी उत्पत्ति अथवा विभूतियों को जानते हैं क्योंकि मैं देवताओं और मुनियों का सभी प्रकार से उद्गम हूँ।"

इस प्रकार कृष्ण उन शक्तियों के मूल हैं, जो देवताओं, महर्षियों तथा योगियों को प्रदान की गई हैं। यद्यपि उन्हें महान् शक्तियाँ प्रदान की गई हैं, तथापि ये शक्तियाँ सीमित हैं; अतः उनके लिए यह समझ पाना कठिन है कि कृष्ण किस प्रकार अपनी अन्तरंगा शक्ति से मनुष्य के रूप में प्रकट होते हैं।

अनेक दार्शनिक तथा बड़े-बड़े ऋषि या योगी अपनी अल्पबुद्धि से परम को सापेक्ष (सत्य) से विभेदित करने का प्रयत्न करते हैं। इससे उन्हें परम ब्रह्म का कोई निश्चित चिह्न तो मिलता नहीं, मात्र सापेक्षता से परम की नकारात्मक कल्पना तक पहुँचने में सहायता मिल सकती है। नकारात्म बोध के द्वारा ब्रह्म की परिभाषा पूर्ण नहीं हो सकती। ऐसी निषेधात्मक परिभाषाओं से निजी धारणा को उत्पन्न करने के लिए बल मिलता है; इस तरह मनुष्य कल्पना करता है कि परम ब्रह्म अवश्य ही रूपविहीन (निराकार) तथा गुणरहित (निर्गुण) होगा। ऐसे निषेधात्मक गुण सापेक्ष सकारात्मक गुणों के सर्वथा विलोम हैं अतएव वे सापेक्ष

भी हैं। ब्रह्म को इस प्रकार कल्पित करने पर कोई, अधिक से अधिक, ईश्वर के निर्विशेष तेज तक पहुँच सकता है, जिसे 'ब्रह्म' कहते हैं, लेकिन वह परम पुरुषोत्तम 'भगवान' तक नहीं पहुँच सकता।

ऐसे मनोधर्मी (ज्ञानी) यह नहीं जानते कि श्रीकृष्ण ही पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान हैं और निविशेष ब्रह्म' उनके दिव्य शरीर का देदीप्यमान तेज है तथा 'परमात्मा' उनकी पूर्ण सर्वव्यापी अभिव्यक्ति है। न ही वे यह जानते हैं कि कृष्ण का स्वरूप सच्चिदानन्द स्वरूप है। आश्रित देवता तथा महर्षि उन्हें एक शक्तिशाली देवता के रूप में मानते हैं और ब्रह्मतेज को ही परम सत्य मानते हैं; यह उनकी अपूर्ण विचारधारा है, किन्तु कृष्ण भक्त अपनी अनन्य भक्ति वंश और उनकी शरण में जाने के कारण जान सकते हैं कि कृष्ण परम पुरुष है और हर वस्तु उन्हीं से उद्भूत होती है। ऐसे भक्त प्रत्येक वस्तु के उद्गम कृष्ण की निरन्तर प्रेमाभक्ति करते हैं।

भगवद गीता (७.२०,२३) में कहा गया है कि केवल बुद्धिहीन, मोहग्रस्त मनुष्य जो इन्द्रियतृप्ति की प्रबल इच्छा से प्रभावित हो जाते हैं, वे ही क्षणिक समस्याओं से अस्थायी राहत के लिए देवताओं की पूजा करते हैं। चूँकि मनुष्य संसार से भौतिक रूप से बँधा है अतएव उसे भवबन्धन से पूर्णतया मुक्त होना है, जिससे वह आध्यात्मिक धरातल पर स्थायी राहत प्राप्त कर सके, जहाँ शाश्वत आनन्द, जीवन तथा ज्ञान का अस्तित्व है। अत: *श्रीईशोपनिषद्* यह उपदेश देती है कि हमें परतंत्र देवताओं की पूजा करके जो मात्र अस्थायी लाभ ही दे सकते हैं, अपनी समस्याओं की क्षणिक राहत लेने का प्रयास नहीं करना चाहिए। प्रत्युत हमें पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान कृष्ण की पूजा करनी चाहिए जो सर्वाकर्षक हैं और हमें भगवद्धाम वापस ले जाकर भवबंधन से पूर्ण मुक्ति दे सकते है। *भगवद्गीता* में (७.२३) यह कहा गया है कि देवताओं की पूजा करने वाले देवलोक को जा सकते हैं। चन्द्रमा की पूजा करने वाले चन्द्रलोक को जा सकते हैं, सूर्य के पूजक सूर्यलोक को जा सकते हैं, इत्यादि, इत्यादि । आधुनिक विज्ञानीजन अब रॉकेटों की सहायता से चन्द्रमा तक पहुँचने का दुस्साहस कर रहे हैं, लेकिन यह कोई नया प्रयास नहीं है। मनुष्य अपनी प्रगत चेतना से स्वभावत: बाह्य अंतरिक्ष में यात्रा करने और अन्य लोकों में पहुँचने की प्रवृत्ति रखता है- चाहे यह अन्तरिक्षयानों के द्वारा हो, योगशक्ति से हो या देव पूजा से हो। वैदिक शास्त्रों में कहा गया है कि मनुष्य इन तीनों साधनों में से किसी एक के द्वारा अन्य लोकों तक पहुँच सकता है, लेकिन सर्वसामान्य विधि उस देव की पूजा है, जो उस लोक विशेष का अधिष्ठाता देव हो। इस प्रकार मनुष्य चन्द्रलोक, सूर्यलोक या ब्रह्मलोक तक भी जो इस ब्रह्माण्ड में सबसे उच्च लोक है पहुँच सकता है। किन्तु इस भौतिक ब्रह्माण्ड में सारे लोक क्षणभंगुर निवास-स्थल हैं; एकमात्र स्थायी लोक वैकुण्ठ लोक हैं और ये आध्यात्मिक आकाश में स्थित हैं और भगवान् स्वयं उनके अधिष्ठाता हैं। जैसाकि भगवद्गीता में (८.१६) भगवान कृष्ण द्वारा कहा गया है :

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥

"भौतिक जगत में सर्वोच्च लोक से लेकर निम्नतम लोक तक सारे के सारे लोक दुख के स्थान हैं, जहाँ बारम्बार जन्म तथा मृत्यु होती है। किन्तु हे कुंतीपुत्र! जो व्यक्ति मेरे धाम को प्राप्त कर लेता है, वह फिर से जन्म नहीं लेता।"

श्रीईशोपनिषद् पुस्तक इंगित करती है कि जो मनुष्य देवताओं की पूजा करता है तथा उनके भौतिक लोकों को प्राप्त कर लेता है, तो भी वह ब्रह्माण्ड के अंधकारमय भाग में ही रह जाता है। सम्पूर्ण विश्व विशाल भौतिक तत्वों से ढका हुआ है ठीक वैसे, जैसे नारियल खपड़े से ढका है और उसका आधा भाग जल से भरा है। चूँकि इसका बाहरी आवरण वायुरुद्ध है और इसके अन्दर घना अंधकार है इसलिए इसे प्रकाशित करने के लिए सूर्य और चन्द्रमा की आवश्यकता है। ब्रह्माण्ड के बाहर व्यापक तथा असीम ब्रह्म ज्योति का प्रसार है, जो वैकुण्ठ लोकों से भरा पड़ा है । ब्रह्म ज्योति में सबसे बड़ा तथा ऊँचा लोक कृष्ण लोक या गोलोक वृन्दावन है, जहाँ पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं निवास करते हैं। वे कभी इस कृष्णलोक को छोड़ते नहीं। यद्यपि वे वहाँ अपने नित्य पार्षदों के साथ निवास करते हैं, तथापि वे सम्पूर्ण भौतिक तथा आध्यात्मिक विराट सृष्टियों में सर्वव्यापी हैं। इसकी व्याख्या चौथे मंत्र में पहले ही की जा चुकी है। भगवान् उसी तरह सर्वत्र विद्यमान हैं, जिस तरह सूर्य है; फिर भी वे एक स्थान पर स्थित हैं, जिस तरह सूर्य अपनी अविचल कक्षा में स्थित रहता है।

जीवन की समस्याएँ मात्र चन्द्रमा पर या इसके ऊपर या नीचे के किसी दूसरे लोक पर जाने से हल होने वाली नहीं है। अत: श्री ईशोपनिषद् हमें सलाह देता है कि इस अंधकारपूर्ण भौतिक ब्रह्माण्ड में किसी भी गंतव्य की परवाह न करके इससे बाहर निकलने और ईश्वर के ज्योतिर्मय साम्राज्य में पहुँचने का प्रयास करना चाहिए। ऐसे अनेक छद्म-पूजक हैं, जो नाम तथा यश कमाने के उद्देश्य से धर्मध्वजी बनते हैं। ऐसे छद्म धर्मध्वजी इस ब्रह्माण्ड से निकल कर वैकुण्ठलोक में नहीं जाना चाहते। वे ईश्वर पूजक के छद्मवेश में इस जगत में अपनी स्थिति पूर्ववत् बनाए रखना चाहते हैं। नास्तिक तथा निर्विशेषवादी ऐसे छद्म-धर्मध्वजियों को नास्तिकतावादी विचारधारा का उपदेश देकर गहनतम अंधकार में ढकेल देते हैं। नास्तिक पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान के अस्तित्व को सीधे-सीधे नकारता है और निर्विशेषवादी परमेश्वर के निराकार पक्ष पर ऐसे नास्तिकों के समर्थन को बल देता है। अभी तक हमें *श्रीईशोपनिषद्* में कोई ऐसा मंत्र नहीं मिला जिसमें पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान के अस्तित्व को नकारा गया हो। कहा गया है कि वे किसी से भी अधिक तेज दौड़ सकते हैं। अन्य ग्रहों के पीछे दौड़ने वाले निश्चय ही आकारवान मनुष्य हैं और यदि भगवान उन सबसे तेज दौड़ सकते हैं, तो फिर उन्हें किस तरह निराकार कहा जा सकता है। परमेश्वर की निराकार धारणा अज्ञान का दूसरा रूप है, जो परम सत्य की अपूर्ण धारणा से उत्पन्न होती है।

अज्ञानी छद्म-धर्मध्वजी एवं तथाकथित अवतारों का निर्माण करने वाले जो वैदिक आदेशों का प्रत्यक्ष उल्लंघन करते है, ब्रह्माण्ड के अंधकारमय भाग में प्रवेश करते हैं क्योंकि वे अपने अनुयायियों को पथभ्रष्ट करते हैं। ये निर्विशेषवादी सामान्यतया मूर्खों के मध्य अपने को ईश्वर का अवतार घोषित करते हैं क्योंकि उन्हें वैदिक वाङ्मय का कोई ज्ञान नहीं होता । यदि ऐसे मुर्ख पुरुषों के हाथ तनिक भी ज्ञान लग जाता है तो वह ज्ञान उनके हाथों में ज्ञान की अपेक्षा अधिक घातक है। ऐसे निर्विशेषवादी शास्त्रों द्वारा बताई गई विधि से देवताओं की भी पूजा नहीं करते। शास्त्रों में कतिपय परिस्थितियों के अन्तर्गत देवताओं की पूजा करने की संस्तुतियाँ हैं, लेकिन उसके साथ-साथ ये शास्त्र यह भी कहते हैं कि सामान्यतया ऐसा करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

भगवद्गीता में (७.२३) स्पष्ट कहा गया है कि देवताओं की पूजा करने से जो फल प्राप्त होते हैं, वे स्थायी नहीं होते। चूँकि यह सारा भौतिक ब्रह्माण्ड ही स्थायी नहीं है, अतएव भौतिक जगत के अंधकार में जो कुछ भी उपलब्ध हो पाता है, वह भी नश्वर है। प्रश्न यह है कि सच्चा तथा स्थायी जीवन किस तरह प्राप्त किया जाए ?

भगवान् कहते हैं कि ज्योंही कोई भक्ति के द्वारा उन तक पहुँच जाता है-जो भगवान तक पहुँचने का एकमात्र मार्ग है-त्योंही वह जन्म तथा मृत्यु के बन्धन से पूर्ण मुक्ति पा जाता है। दूसरे शब्दों में, भवबन्धन से मोक्ष का मार्ग भगवद्भक्ति के द्वारा प्राप्त ज्ञान तथा वैराग्य के सिद्धांतों पर पूरी तरह निर्भर रहता है। इन छद्म-धर्म ध्वजियों में न तो ज्ञान होता है न भौतिक मामलों से विरक्ति क्योंकि उनमें से अधिकांश लोग भवबन्धन की स्वर्णिम जंजीरों में बँध कर धार्मिक सिद्धान्तों के वेश में छुपे परोपकारी एवं कल्याणकारी कार्यकलापों की छाया के तले जीवित रहना चाहते हैं। धार्मिक भावनाओं के झूठे प्रदर्शन द्वारा वे भक्ति का स्वरूप प्रस्तुत करते हैं जबकि वे सभी प्रकार के दुराचार करते रहते हैं। इस प्रकार वे गुरु तथा ईश्वर के भक्त के रूप में बने रहते हैं। धर्म के नियमों का उल्लंघन करने वाले ऐसे लोग प्रामाणिक आचार्यों के प्रति कोई सम्मान नहीं दिखाते। वे वैदिक आदेश आचार्योपासना (आचार्य की पूजा) तथा *भगवद्गीता* (४.२) में कृष्ण के कथन--एवं परम्पराप्राप्तम्--का भी उल्लंघन करते हैं। वे सामान्य जनता को भ्रान्त करने के लिए स्वयं तथाकथित आचार्य बन बैठते हैं, लेकिन वे आचार्यों के सिद्धान्तों का पालन तक नहीं करते।

ऐसे धूर्त मानव समाज के सबसे घातक तत्त्व हैं। चूँकि कोई धर्म-आधारित सरकार विद्यमान नहीं है, अतएव वे राज्य के नियमों द्वारा दण्ड पाने से बच जाते हैं। किन्तु वे परमेश्वर के नियम से नहीं बच सकते जिन्होंने *भगवद्गीता* में (१६.१९-२०) घोषित किया है कि धर्म प्रचारकों के वेश में ईर्ष्यालु असुरों को नरक के गहनतम भाग में डाल दिया जाएगा। *श्रीईशोपनिषद्* पुष्टि करती है कि ये छद्म धर्मध्वजी केवल अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए चलाए जाने वाले गुरु के व्यापार के पूरा होने पर ब्रह्माण्ड के सबसे घृणित स्थान की ओर बढ़ जाएँगे। ■

मंत्र १३

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात्।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे॥१३॥

अन्यत्-भिन्न; एव-निश्चय ही; आहुः-कहा जाता है; सम्भवात्-समस्त कारणों के कारण परमेश्वर की पूजा द्वारा; अन्यत्-भिन्न; आहुः-कहा जाता है; असम्भवात्-जो परमेश्वर नहीं है उसकी पूजा से; इति-इस प्रकार; शुश्रुम- मैंने यह सुना; धीराणां-धीर पुरुषों से; ये-जो ; नः हमको; तत्-उस विषयवस्तु के बारे में; विचचक्षिरे-पूर्णतया बताया गया।

अनुवाद

कहा जाता है कि समस्त कारणों के कारणस्वरूप परमेश्वर की पूजा करने से एक तरह का फल मिलता है और जो परम सत्य नहीं है उसकी पूजा करने से दूसरी तरह का फल मिलता है। यह सब उन धीर पुरुषों से सुना गया है जिन्होंने इसका स्पष्ट रूप से वर्णन किया है।

तात्पर्य

इस मंत्र से धीर पुरुषों से श्रवण करने की पद्धति प्रमाणित होती है। जब तक ऐसे प्रामाणिक आचार्य से श्रवण नहीं किया जाता, जो भौतिक जगत में होने वाले परिवर्तनों से तनिक भी विचलित नहीं होता, तब तक दिव्य ज्ञान की असली कुंजी प्राप्त नहीं हो पाती। जिस भी प्रामाणिक गुरु ने अपने धीर आचार्य से श्रुति मंत्रों या वैदिक ज्ञान को सुना है, वह कभी भी कोई ऐसी बात प्रस्तुत नहीं करता जो वैदिक ग्रन्थों में उल्लिखित न हो। *भगवद्गीता* में (९.२५) स्पष्ट कहा गया है कि जो पितरों की पूजा करते हैं, वे पितृलोक प्राप्त करते हैं; वे निपट भौतिकतावादी जो यहीं बने रहने की योजना बनाते हैं इसी लोक में रहते हैं और भगवद्भक्त, जो समस्त कारणों के परम कारण भगवान कृष्ण के अतिरिक्त किसी और की पूजा नहीं करते वैकुण्ठ में भगवान के धाम पहुँचते हैं।

यहाँ पर *श्रीईशोपनिषद्* में भी पुष्टि की गई है कि विभिन्न प्रकार की पूजा से भिन्न प्रकार के फल प्राप्त होते हैं। यदि हम परमेश्वर की पूजा करते हैं, तो हम अवश्य ही उनके नित्य धाम में उनके पास पहुँचेंगे, लेकिन यदि हम सूर्यदेव अथवा चन्द्र जैसे देवताओं की पूजा करें तो हम निस्सन्देह, उनके लोकों में पहुँच जाएँगे। किन्तु यदि हम अपने योजना आयोगों

तथा अपनी कामचलाऊ राजनीतिक जोड़तोड़ से इसी मनहूस लोक में बने रहना चाहते हैं, तो निश्चित रूप से हम वह भी कर सकते हैं।

प्रामाणिक शास्त्रों में कहीं भी यह नहीं कहा गया कि मनुष्य कुछ भी करके या किसी की भी पूजा करके अन्ततोगत्वा एक ही लक्ष्य पर पहुंचेगा । ऐसे मूर्खतापूर्ण सिद्धान्त स्वतः निर्मित गुरुओं द्वारा प्रस्तुत किए जाते हैं जिनका परम्परा से कोई सम्बन्ध नहीं होता। कोई भी प्रामाणिक गुरु यह नहीं कह सकता कि सारे मार्ग एक ही लक्ष्य को जाते हैं और कोई भी मनुष्य इस लक्ष्य को अपनी विधि से की गई देवताओं की या परमेश्वर की या किसी की भी पूजा से प्राप्त कर सकता है। किसी भी सामान्य व्यक्ति के लिए यह समझना आसान है कि मनुष्य अपने गंतव्य तक तभी पहुँच सकता है जब उसने वहाँ का टिकट खरीदा हो। जिस व्यक्ति ने कलकत्ता का टिकट खरीदा है, वह कलकत्ता पहुँच सकता है, मुंबई नहीं। फिर भी, तथाकथित गुरु कहते हैं कि कोई भी पथ तथा सारे मार्ग किसी को परम गन्तव्य तक ले जा सकते हैं। ऐसे सांसारिक तथा समझौतावादी लोग अनेक मूर्ख प्राणियों को आकर्षित करते हैं, जो उनके द्वारा निर्मित आध्यात्मिक साक्षात्कार की विधियों से गर्वित हो उठते हैं। लेकिन वैदिक आदेश उनका समर्थन नहीं करते। जब तक कोई प्रामाणिक गुरु से ज्ञान न प्राप्त करे, जो शिष्य-परम्परा द्वारा मान्य श्रेणी में है, तब तक उसे असली वस्तु यथारूप में प्राप्त नहीं हो सकती। कृष्ण *भगवद्गीता* में (४.२) अर्जुन से कहते हैं :

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप॥

"यह परम विज्ञान इस प्रकार परम्परा से प्राप्त हुआ था और राजर्षियों ने इसे इसी प्रकार से समझा। लेकिन कालान्तर में यह परम्परा टूट गई और अब यह विज्ञान अपने यथारूप में लुप्तप्राय हो गया प्रतीत होता है।"

जब भगवान श्रीकृष्ण इस धराधाम में उपस्थित थे तो भक्ति योग के सिद्धान्त, जिनकी परिभाषा भगवद्गीता में दी गई है, विरूपित हो चुके थे। अतएव भगवान को अर्जुन से प्रारम्भ करके यह परम्परा पुन: स्थापित करनी पड़ी जो भगवान का अत्यन्त विश्वासपात्र मित्र तथा भक्त था। भगवान ने अर्जुन से स्पष्ट कह दिया था (*भगवतगीता* ४.३) कि चूँकि तुम मेरे भक्त तथा मित्र हो अतएव भगवद्गीता के सिद्धान्त तुम समझ सकते हो। दूसरे शब्दों में, जो व्यक्ति भगवान का भक्त तथा मित्र है, वह गीता को समझ सकता है। इसका यह भी अर्थ होता है कि जो कोई अर्जुन के पथ का अनुगमन करता है, वही भगवद्गीता को समझ सकता है।

वर्तमान समय में इस भव्य संवाद के अनेक व्याख्याकार तथा अनुवादक हैं, जो भगवान कृष्ण तथा अर्जुन की तनिक भी परवाह नहीं करते। ऐसे व्याख्याकार *भगवद्गीता* के श्लोकों की व्याख्या अपने ढंग से करते हैं और गीता के नाम पर सभी प्रकार के कूड़े-करकट की

परिकल्पना करते हैं। ऐसे व्याख्याकार न तो श्री कृष्ण में विश्वास करते हैं न ही उनके नित्य धाम में। तो फिर, वे *भगवतगीता* की व्याख्या किस तरह कर सकते हैं?

कृष्ण स्पष्ट कहते हैं (*भगवतगीता* ७.२०,२३) कि जिन लोगों की बुद्धि मारी गई है वे ही तुच्छ फलों के लिए देवताओं का पूजा करते हैं। अन्ततोगत्वा कृष्ण उपदेश देते हैं (*भगवदगीता* १८.६६) कि मनुष्य पूजा के अपने सारे विधानों का त्याग कर मात्र उन्हीं की शरण ग्रहण करे। जो लोग सारे पाप कर्मों के फलों से शुद्ध हो चुके हैं केवल वे ही भगवान में अटूट श्रद्धा रख सकते हैं। अन्य लोग अपनी तुच्छ पूजा विधियों को लेकर भौतिक रंगमंच में मँडराते रहेंगे और असली पथ से इस भ्रम के कारण विपथ हो जाएँगे कि सारे पथ एक ही लक्ष्य को ले जाते हैं।

श्री ईशोपनिषद के इस मंत्र में *सम्भवात्* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसका अर्थ है परम कारण की पूजा से। भगवान् कृष्ण आदि पुरुष हैं और यहाँ जितनी वस्तुओं का अस्तित्व है, वे सब उन्हीं से उद्‌भूत हैं। *भगवद्गीता* में (१०.८) भगवान बताते हैं

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विता:॥

“मैं ही सभी आध्यात्मिक तथा भौतिक जगतों का स्रोत हूँ। सबकुछ मुझ से ही उद्‌भूत है। बुद्धिमान व्यक्ति जो इसे पूर्णरूपेण जानते हैं.मेरी भक्ति में लगते हैं और हृदय से मेरी पूजा करते हैं।“

यह है स्वयं परमेश्वर द्वारा दिया गया भगवान का शुद्ध वर्णन। *सर्वस्य प्रभव:* शब्द बताते हैं कि कृष्ण ही ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव समेत समस्त प्राणियों के स्रष्टा हैं। चूँकि भौतिक जगत के ये तीन प्रमुख देवता भगवान द्वारा उत्पन्न किए गए हैं, अतएव भौतिक तथा आध्यात्मिक जगतों में जो कुछ भी विद्यमान है, उसके सृष्टा भगवान हैं। अथर्ववेद (गोपालतापना उपनिषद् १.२४) में भी इसी प्रकार कहा गया है "ब्रह्मा की सृष्टि के पूर्व जो विद्यमान था तथा जिसने ब्रह्मा को वैदिक ज्ञान दिया वे भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं। इसी प्रकार नारायण उपनिषद् (१) बताती है, "परम पुरुष ने जीवों की उत्पत्ति करनी चाही। नारायण से ब्रह्मा उत्पन्न हुए। नारायण ने सारे प्रजापतियों को उत्पन्न किया। नारायण ने इन्द्र को बनाया। नारायण ने आठों वसु बनाए। नारायण ने ग्यारह रुद्र बनाए। नारायण ने बारह आदित्यों की सृष्टि की ।" चूँकि नारायण भगवान कृष्ण के पूर्ण अंश हैं, अतएव नारायण तथा कृष्ण एक ही हैं। नारायण उपनिषद् (४) यह भी कहती है कि देवकी के पुत्र कृष्ण परम ईश्वर हैं । नारायण को परम कारण के रूप में श्रीपाद शंकराचार्य ने भी स्वीकार किया है और पुष्टि की है, यद्यपि शंकराचार्य न तो वैष्णव थे न ही सगुणवादी सम्प्रदाय के थे। अथर्ववेद (महा उपनिषद्) का भी यह कथन है, "जब न ब्रह्मा, न शिव, न अग्नि, न जल, न तारे, न सूर्य, न ही चन्द्रमा थे तब प्रारम्भ में केवल नारायण ही थे। भगवान् कभी अकेले नहीं रहते; वे

इच्छानुसार सृष्टि कर लेते हैं।" कृष्ण ने मोक्षधर्म में स्वयं कहा है, "मैने प्रजापतियों तथा रुद्रों की सृष्टि की। उन्हें मेरा पूर्ण ज्ञान नहीं है क्योंकि वे मेरी भ्रामक शक्ति द्वारा प्रच्छन्न हैं।" वराह पुराण में भी कहा गया है, "नारायण परम पुरुष भगवान हैं और उन्हीं से चतुर्मुख ब्रह्मा तथा रुद्र भी प्रकट हुए जो बाद में सर्वज्ञ बन गए।"

इस प्रकार सारा वैदिक साहित्य इसकी पुष्टि करता है कि नारायण या कृष्ण ही समस्त कारणों के कारण है। ब्रह्म-संहिता (५.१) में भी कह गया है कि परमेश्वर तो श्रीकृष्ण, गोविन्द, हैं, जो प्रत्येक जीव को प्रसन्न करने वाले तथा समस्त कारणों के आदि कारण हैं। असली विद्वान पुरुष इसे महर्षियों तथा वेदों द्वारा दिए गए प्रमाण से जानते हैं। इस तरह विद्वान मनुष्य कृष्ण को सर्वेसर्वा मानकर पूजा करने का निर्णय लेता है। ऐसे लोग बुद्ध या वास्तविक विद्वान कहलाते हैं।

यह दृढ़ निष्ठा कि कृष्ण सर्वेसर्वा हैं तब स्थापित होती है जब मनुष्य अविचल (धीर) आचार्य से श्रद्धापूर्वक तथा प्रेमपूर्वक दिव्य सन्देश का श्रवण करता है। जिस व्यक्ति की भगवान कृष्ण में श्रद्धा या उनके प्रति प्रेम नहीं होता उसे इस सरल सत्य के प्रति विश्वस्त नहीं किया जा सकता। *भगवद्गीता* में (९.११) अश्रद्धालुओं को मूढ़, मूर्ख या गधा कहा गया है। यह कहा गया है कि मूढ़ लोग पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान का उपहास करते हैं क्योंकि उन्हें अविचल आचार्य से पूर्ण ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ रहता। जो व्यक्ति भौतिक शक्ति के भँवर द्वारा विचलित होता हो वह आचार्य बनने के योग्य नहीं है।

भगवद्गीता सुनने के पूर्व अर्जुन अपने परिवार, समाज तथा जाति के प्रति स्नेह के कारण भौतिक भँवर द्वारा विचलित था। अतएव अर्जुन परोपकारी तथा विश्व का अहिंसक व्यक्ति बनना चाहता था। किन्तु जब वह परम पुरुष से *भगवद्गीता* का वैदिक ज्ञान सुनकर बुध बन गया तो उसने अपना निर्णय बदल दिया और वह भगवान कृष्ण का उपासक बन गया, जिन्होंने स्वयं कुरुक्षेत्र युद्ध की योजना बनाई थी। अर्जुन ने अपने तथाकथित सम्बन्धियों से युद्ध करके भगवान की पूजा की। इस प्रकार वह भगवान का शुद्ध भक्त बन गया और ऐसी सिद्धियाँ तभी मिल सकती हैं जब कोई असली कृष्ण को पूजे, किसी बनावटी कृष्ण को नहीं जो *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* में वर्णित कृष्ण विज्ञान की बारीकियों से अनभिज्ञ मूर्खों द्वारा आविष्कृत हो।

वेदांतसूत्र के अनुसार सम्भूत जन्म तथा पालन का स्रोत होने के साथ-साथ प्रलय के बाद जो कुछ बचता है उसका आगार होता है। (जन्माद्यस्य यत:) *श्रीमद्भागवत* जो वेदान्तसूत्र पर, उसके रचयिता की ही टीका है, यह कहती है कि समस्त उद्भवों का स्रोत कोई जड़ पत्थर जैसा नहीं होता अपितु वह पूर्ण अभिज्ञ या पूर्णतया चेतन होता है। *भगवद्गीता* में (७.२६) आदि भगवान् श्रीकृष्ण भी यह कहते हैं कि वे भूत, वर्तमान तथा भविष्य से पूर्णतया अभिज्ञ हैं, किन्तु शिव तथा ब्रह्मा जैसे देवता भी उन्हें पूरी तरह नहीं जानते । निश्चय ही अर्धशिक्षित गुरु जो भवसागर के उतार-चढ़ाव से विक्षुब्ध रहते हैं पूरी

तरह से उन्हें नहीं जान सकते। वे मानव समाज को पूजा का लक्ष्य (आराध्य) मान कर कुछ समझौता करने का प्रयास करना चाहते लेकिन वे यह नहीं समझते कि ऐसी पूजा मात्र एक कल्पना है क्योंकि जनता अपूर्ण है। इन तथाकथित गुरुओं का प्रयास वृक्ष की जड़ को न सींचकर पत्तियों पर पानी डालने के तुल्य है। वास्तविक विधि तो जड़ में पानी डालने की है, लेकिन ऐसे विक्षुब्ध नेता तो जड़ के बजाय पत्तियों से अधिक आकर्षित होते हैं । फलत: पत्तियों को निरन्तर सींचते रहने पर भी पोषण के अभाव में सब कुछ सूख जाता है।

श्रीईशोपनिषद् हमें शिक्षा देता है कि जड़ को सींचो, जो अंकुरण का स्रोत है। शारीरिक सेवा करके मानव समाज की पूजा कभी भी पूर्ण नहीं हो सकती और वह आत्मा की सेवा से कम महत्त्वपूर्ण है। आत्मा वह जड़ है जो कर्म के नियम के अनुसार विभिन्न प्रकार के शरीरों को जन्म देती है। उपचार सहायता, सामाजिक सहायता तथा शिक्षा सम्बन्धी सुविधाएँ प्रदान करके मनुष्यों की सेवा करने के साथ ही साथ कसाइघरों में दीन पशुओं के गले काटना जीव अर्थात् आत्मा की कोई सेवा नहीं है।

जीव निरन्तर विभिन्न प्रकार के शरीरों में जन्म, जरा, रोग तथा मृत्यु के भौतिक कष्ट भोगता रहता है। मानव जीवन ऐसा अवसर है, जिसमें जीव तथा परमेश्वर के बीच खोए सम्बन्ध को पुन: स्थापित करके इस बंधन से छूटा जा सकता है। भगवान सम्भूत के प्रति शरणागति के दर्शन की शिक्षा देने के लिए स्वयं आते हैं। मानवता की वास्तविक सेवा तो तब होती है जब मनुष्य पूर्ण प्रेम तथा शक्ति सहित परमेश्वर की शरण ग्रहण करने तथा पूजा करने की शिक्षा देता है। इस मंत्र में श्री *ईशोपनिषद्* का यही उपदेश है।

अशान्ति के इस युग में परमेश्वर की पूजा करने की सरल विधि है--उनके महान् कार्यकलापों के विषय में श्रवण तथा कीर्तन करना। किन्तु मनाधर्मी सोचते हैं कि भगवान के कार्यकलाप काल्पनिक हैं; अतएव वे उन्हें सुनने से कतराते हैं और निर्दोष जनता का ध्यान मोडने के लिए निरर्थक वाग्जाल का आविष्कार करते रहते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण के कार्यकलापों का श्रवण करने के बजाय ऐसे ढोंगी गुरु अपने अनुयायियों को उनका गुणगान करने के लिए फुसलाकर आत्म विज्ञापन कराते हैं। आधुनिक युग में ऐसे पाखंडियों की संख्या में काफी वृद्धि हुई है और भगवान के शुद्ध भक्तों के लिए यह समस्या बन गई है कि वे जनता को इन पाखंडियों तथा छद्म अवतारों के अपवित्र प्रचार से किस प्रकार बचाएँ।

उपनिषदें अप्रत्यक्ष रूप से हमारा ध्यान आदि भगवान श्रीकृष्ण की ओर आकर्षित कराती हैं, लेकिन समस्त उपनिषदों का सार भगवद्गीता सीधे कृष्ण को लक्षित करती है। श्रीकृष्ण जिस तरह है उसी रूप में उन्हें *भगवद्गीता* या *श्रीमद्भागवत* से सुनने से, मनुष्य का मन क्रमशः समस्त प्रदूषित वस्तुओं से स्वच्छ हो जाता है। *श्रीमद्भागवत* (१.२.१७) का कथन है, "भगवान् के कार्यकलापों के श्रवण द्वारा भक्त भगवान् का ध्यान अपनी ओर खींचता है। इस प्रकार जन-जन के हृदय में वास करने वाले भगवान भक्त को समुचित दिशा

प्रदान करके उसकी सहायता करते हैं।" *भगवद्गीता* भी (१०.१०) इसी की पुष्टि करती है। ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।

भगवान के आन्तरिक निर्देश द्वारा भक्त के हृदय का वह सारा कल्मष दूर हो जाता है, जो रजो और तमो गुणों द्वारा उत्पन्न होता है। अभक्तगण रजो तथा तमो गुणों के वश में रहते हैं। जो रजोगुणी है, वह भौतिक लालसा से विरक्त नहीं हो सकता और जो तमोगुणी है, वह न तो यह जान सकता है कि वह क्या है, न यह कि भगवान क्या हैं। अतएव रजोगुणी या तमोगुणी के लिए आत्म-साक्षात्कार की कोई सम्भावना नहीं रहती, चाहे वह कितना ही धर्मात्मा बनने का प्रयास क्यों न करे। भक्त के लिए रजो तथा तमोगुण भगवत्कृपा दूर हो जाते हैं। इस तरह भक्त सतोगुण को प्राप्त होता है, जो पूर्ण ब्राह्मण का लक्षण है। कोई भी व्यक्ति यदि वह प्रामाणिक गुरु के निर्देशन में भक्तिपथ का अनुगमन करे तो ब्राह्मण बन सकता है। श्रीमद्भागवत का भी (२.४.१८) कथन है :

किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा
आभीरकङ्का यवना: खसादयः।
येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः
शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः

"कोई भी निम्नजन्मा व्यक्ति भगवान के शुद्ध भक्त के मार्ग निर्देशन में शुद्ध हो सकता है क्योंकि भगवान अद्वितीय रूप से शक्तिमान है।"

ब्राह्मण गुणों को प्राप्त कर लेने पर मनुष्य सुखी हो जाता है और भगवान की भक्ति करने के लिए उत्साहित रहता है। उसके समक्ष भगवदविज्ञान स्वतः प्रकट हो जाता है। भगवदविज्ञान जानने से मनुष्य धीरे धीरे भौतिक आसक्तियों से मुक्त होता जाता है और उसका संशयग्रस्त मन भगवत्कृपा से विमल हो जाता है। जब उसे यह अवस्था प्राप्त हो जाती है, तो वह मुक्तात्मा बन जाता है और जीवन के प्रत्येक पग में भगवान का दर्शन कर सकता है। यह सम्भव की सिद्धि है, जैसाकि श्री ईशोपनिषद के इस मंत्र में कहा गया है। ■

मंत्र १४

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद् वेदोभयं सह ।
विनाशेन मृत्यु तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते ॥१४॥

सम्भूतिम्-शाश्वत भगवान को, उनके दिव्य नाम, रूप, लीलाओं तथा गुणों को, साज-सामान को, उनके काम की विविधता आदि को; च-तथा; विनाशम् -देवताओं, मनुष्यों, पशुओं इत्यादि की क्षणिक भौतिक अभिव्यक्ति तथा उनके मिथ्या नामों, यश इत्यादि को; च-भी; यः-जो; तत्-वह; वेद-जानता है; उभयम्-दोनों को; सह-सहित; विनाशेन-विनाशशील से; मृत्युम् -मृत्यु को; तीर्त्वा- पार करके; सम्भूत्या-भगवान के शाश्वत राज्य में; अमृतम् अमरता; अश्नुते-भोगता है।

अनुवाद

मनुष्य को चाहिए कि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान तथा उनके दिव्य नाम रूप, गुणों तथा लीलाओं के साथ ही साथ अस्थायी देवताओं, मनुष्यों तथा पशुओं से युक्त नश्वर भौतिक सृष्टि को भलीभाँति जान ले। जब मनुष्य इन्हें जान लेता है, तो वह मृत्यु एवं अनित्य दृश्य जगत को पार कर लेता है और भगवान के शाश्वत राज्य में आनंद तथा ज्ञान का शाश्वत जीवन भोगता है।

तात्पर्य

ज्ञान की तथाकथित प्रगति के द्वारा मानव सभ्यता ने अनेक भौतिक वस्तुओं को जन्म दिया है जिनमें अन्तरिक्षयान तथा परमाणु शक्ति भी सम्मिलित हैं। फिर भी वह जन्म, जरा, रोग तथा मृत्यु से मुक्ति दिलाने में विफल रही है। जब भी बुद्धिमान मनुष्य तथाकथित वैज्ञानिक के समक्ष इन कष्टों के प्रश्न को उठाता है, तो वह अत्यन्त चतुराई से उत्तर देता है कि भौतिक विज्ञान प्रगति कर रहा है और अन्ततः मनुष्य को मृत्युरहित बनाकर और वृद्धावस्था से छुटकारा दिलाकर अमर बनाया जा सकेगा। ऐसे उत्तर भौतिक प्रकृति के विषय में वैज्ञानिकों के निपट अज्ञान को बताने वाले हैं। भौतिक प्रकृति के अन्तर्गत प्रत्येक जीव कठोर भौतिक नियमों के अधीन है और उसे अस्तित्व की छः अवस्थाओं में से गुजरना होता है, ये है जन्म, वृद्धि, पालन, उपोत्पादन, क्षय तथा अन्ततोगत्वा मृत्यु। प्रकृति के सम्पर्क में आने वाला

कोई भी व्यक्ति इन छह नियमों से परे नहीं रह सकता; अतएव चाहे देवता, मनुष्य, पशु या वृक्ष कोई भी हो, वह भौतिक जगत में सदा जीवित नहीं रह सकता।

जीवन की अवधि (आयु) योनियों के अनुसार भिन्न-भिन्न होती है। इस भौतिक ब्रह्माण्ड में जीवों में प्रधान ब्रह्माजी लाखों वर्ष तक जीवित रहते हैं, जबकि एक सूक्ष्म कीटाणु केवल कुछ ही घण्टे जिन्दा रहता है। इस जगत में कोई शाश्वत नहीं है। इस जगत में वस्तुएँ विशेष स्थितियों में उत्पन्न होती हैं या पैदा की जाती हैं; वे कुछ काल तक रहती हैं और यदि वे बनी रहती हैं, तो बढ़ती हैं, उत्पत्ति करती हैं, क्रमश: क्षीण होती हैं और अन्त में लुप्त हो जाती हैं। इन नियमों के अनुसार विभिन्न ब्रह्माण्डों के लाखों ब्रह्मा भी आज या कल मृत्यु को प्राप्त होंगे। इसलिए सारा भौतिक ब्रह्माण्ड मृत्युलोक कहलाता है।

भौतिक विज्ञानी तथा राजनीति इस स्थान को मृत्यु विहीन बनाने का प्रयास कर रहे हैं क्योंकि उन्हें मृत्यु विहीन आध्यात्मिक प्रकृति का कोई ज्ञान नहीं है। यह तो उस वैदिक साहित्य के प्रति उनका अज्ञान है, जो प्रौढ़ दिव्य अनुभव के आधार पर पुष्ट ज्ञान से पूर्ण है। दुर्भाग्यवश आधुनिक मनुष्य वेदों, पुराणों तथा अन्य शास्त्रों से ज्ञान प्राप्त करने में रुचि नहीं रखता है।

विष्णु पुराण (६.७.६१) से हमें निम्नलिखित जानकारी मिलती हैं :

विष्णु शक्ति परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथा परा।
अविद्या-कर्म-संज्ञान्या त्रितीया शक्तिरिष्यते॥

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान विष्णु की विभिन्न शक्तियाँ हैं। ये परा तथा अपरा कहलाती हैं। जीव परा शक्ति में आते हैं। भौतिक शक्ति जिसमें हम अधुना फँसे हुए हैं वह अपरा शक्ति है। इसी शक्ति से भौतिक सृष्टि सम्भव होती है। यह शक्ति जीव को अविद्या से आच्छादित कर लेती है और उन्हें सकाम कर्म करने के लिए प्रेरित करती है। फिर भी भगवान की परा शक्ति का एक और भाग है, जो इस भौतिक अपरा शक्ति तथा जीवों से भिन्न है। इस परा शक्ति से भगवान का शाश्वत या अमर निवास बना है। इसकी पुष्टि भगवद्गीता (८.२०) में हुई है :

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽ व्यक्तोऽव्यक्तात्सनातन:।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति॥

सारे भौतिक लोक-ऊर्ध्व, अधः तथा मध्यलोक, जिनमें सूर्य, चन्द्र तथा शुक्र सम्मिलित हैं, ब्रह्माण्ड भर में बिखरे हए हैं। ये सारे लोक 'ब्रह्मा' के जीवन काल तक ही रहते हैं। लेकिन कुछ अधोलोक तो 'ब्रह्मा' के एक दिन की समाप्ति पर नष्ट हो जाते हैं और दूसरे दिन पुनः उत्पन्न होते हैं। ऊर्ध्व लोकों में समय की गणना भिन्न रीति से होती है। अनेक उच्चतर लोकों में हमारा एक वर्ष एक दिन तथा एक रात्रि अर्थात् चौबीस घंटे के बराबर होता है। इन लोकों की काल माप के अनुसार पृथ्वी के चारों युग (सत्य, त्रेता. द्वापर तथा कलियुग) केवल

१२,००० वर्ष तक रहते हैं । यदि इस काल को एक हजार से गुणा किया जाए तो यह ब्रह्मा के एक दिन के तुल्य होगा और ब्रह्मा की एक रात भी इतनी ही होती है। ऐसे दिन-रात मिलकर मास तथा वर्ष की सृष्टि करते हैं और ब्रह्मा ऐसे एक सौ वर्षों तक जीवित रहता है। ब्रह्मा के जीवन का अन्त होने पर सम्पूर्ण भौतिक सृष्टि विनष्ट हो जाती है।

वे जीव जो सूर्य तथा चन्द्रमा जैसे उच्च लोकों में वास करते हैं तथा वे जो मृर्त्यलोक में जिसमें यह पृथ्वी तथा नीचे के अनेक लोक सम्मिलित हैं वास करते हैं, सभी ब्रह्मा की रात्रि के समय प्रलय के सागर में डूब जाते हैं। इस काल में कोई भी जीव या योनि जीवित नहीं रहती यद्यपि आध्यात्मिक दृष्टि से ये बने रहते हैं। यह अप्रकट अवस्था अव्यक्त कहलाती है। पुन: जब ब्रह्मा की आयु के अन्त में सारा ब्रह्माण्ड नष्ट होता है, तो एक अन्य अव्यक्त अवस्था आती है। किन्तु इन दो अव्यक्त अवस्थाओं से परे एक और अव्यक्त अवस्था है आध्यात्मिक आकाश या प्रकृति। इस आकाश में अनेक आध्यात्मिक लोक हैं और वे शाश्वत हैं, जबकि इस भौतिक ब्रह्माण्ड के सारे लोक ब्रह्मा के जीवन की समाप्ति पर नष्ट हो जाते हैं। सारे ब्रह्माओं के अधिकार में अनेक भौतिक ब्रह्माण्ड है - प्रत्येक ब्रह्मा के क्षेत्राधिकार में एक-और विभिन्न ब्रह्माण्डों के अधीन जितना दृश्य जगत है, वह परमेश्वर की मात्र एक चौथाई शक्ति का प्रदर्शन है (एकपाद विभूति)। यह अपरा शक्ति है। आध्यात्मिक प्रकृति ब्रह्मा के अधिकार क्षेत्र के बाहर है, जो त्रिपाद-विभूति भगवान की शक्ति का तीन चौथाई भाग कहलाती है। यह परा प्रकृति है।

आध्यात्मिक प्रकृति में निवास करने वाले अधिष्ठाता परम पुरुष भगवान् श्रीकृष्ण हैं। जैसाकि भगवद्गीता में (८.२२) पुष्टि की गई है, केवल अनन्य भक्ति द्वारा ही भगवान तक पहुँचा जा सकता है-ज्ञान, योग या कर्म की विधियों द्वारा नहीं। कर्मी लोग स्वर्गलोकों तक जिनमें सूर्य तथा चन्द्र सम्मिलित हैं, उठ सकते हैं। ज्ञानी तथा योगी इससे भी उच्च लोक यथा महरलोक, तपोलोक तथा ब्रह्मलोक तक पहुँच सकते हैं। किन्तु भक्ति द्वारा जब वे और अधिक योग्य हो जाते हैं, तो उन्हें अपनी-अपनी योग्यताओं के अनुसार आध्यात्मिक प्रकृति में या तो आध्यात्मिक आकाश के प्रदीप्त विश्व-परिवेश में (ब्रह्म) या वैकुण्ठ लोकों में प्रवेश करने दिया जाता है। लेकिन इतना तो निश्चित है कि भक्ति में प्रशिक्षित हुए बिना किसी को भी वैकुण्ठ लोकों में प्रविष्ट नहीं होने दिया जाता।

भौतिक लोकों में ब्रह्मा से लेकर चींटी तक सारे प्राणी भौतिक प्रकृति पर प्रभुत्व जमाने का प्रयास करते हैं और यही भवरोग है। जब तक यह भवरोग रहता है तब तक प्रत्येक जीव को शरीर-परिवर्तन की प्रक्रिया में से गुजरना पड़ता है। चाहे वह मनुष्य का रूप प्राप्त करे या देवता अथवा पशु का, उसे दो प्रलयों-ब्रह्मा की रात्रि की प्रलय तथा ब्रह्मा के जीवन के अन्त की प्रलय-के बीच की अव्यक्त अवस्था सहन करनी पड़ती है। यदि हम जन्म तथा मृत्यु के बारम्बार के चक्र को समाप्त करना चाहते हैं तथा साथ ही साथ बुढ़ापे तथा रोग को भी दूर करना चाहते हैं, तो हमें आध्यात्मिक लोकों में प्रविष्ट करने का प्रयास करना चाहिए

जहाँ हम भगवान कृष्ण या उनके स्वांश विस्तारों अर्थात् नारायण रूपों की संगति में नित्य रह सकते हैं। भगवान कृष्ण या उनके पूर्णांश इन असंख्य लोकों में से प्रत्येक में प्रभुत्व बनाए हुए हैं, जो एक तथ्य है, जिसकी पुष्टि श्रुति मंत्रों में होती है। एको वशी सर्वगः कृष्णऽईद्यः एकोऽपि सन्बहुधा योऽवभाति । (गोपालतापनी उपनिषद् १.३.२१)

कृष्ण के ऊपर कोई प्रभुत्व नहीं जमा सकता। यह तो बद्ध जीव है, जो भौतिक प्रकृति पर प्रभुत्व जमाना चाहता है और उल्टे, प्रकृति के नियमों को तथा बारम्बार जन्म-मृत्यु के कष्टों को भोगता है। भगवान यहाँ पर धर्म की पुनर्स्थापना करने के लिए आते हैं और मूल सिद्धान्त तो यह है कि उनकी शरण में जाने के लिए मनोभाव को विकसित करना होता है। भगवत गीता में (१८.६६) भगवान का यही अन्तिम आदेश है, *सर्वधर्मान् परित्यज्य माम् एकं शरणं व्रज।* "अन्य सभी धर्मों को त्याग कर मात्र मेरी शरण में आओ" लेकिन मूर्खों ने इस मूल शिक्षा की गलत व्याख्या करके जनता को विभिन्न प्रकार से पथभ्रष्ट किया है। लोगों को अस्पताल खोलने के लिए तो प्रेरित किया गया है, किन्तु भक्ति द्वारा वैकुण्ठ जाने के लिए अपने आपको शिक्षित करने के लिए नहीं बताया गया। उन्हें अस्थाई राहत कार्य में ही रुचि लेने की शिक्षा दी गई है, जिससे जीव को कभी भी वास्तविक सुख नहीं मिल सकता। वे प्रकृति की विनाशकारी शक्ति को वश में करने के लिए अनेक प्रकार की सार्वजनिक तथा अर्ध सरकारी संस्था चलाते हैं, लेकिन वे दुर्जेय प्रकृति को शान्त करना नहीं जानते। अनेक लोगों को *भगवद्गीता* का महान् पंडित प्रचारित किया जाता है लेकिन वे गीता के उस सन्देश पर ध्यान नहीं देते हैं जिससे भौतिक प्रकृति को शान्त किया जा सकता है। शक्तिशाली प्रकृति को भगवद् चेतना जागृत करके ही शान्त किया जा सकता है,जैसाकि *भगवद्गीता* में (७.१४) स्पष्ट इंगित हुआ है।

इस मंत्र द्वारा श्री ईशोपनिषद् सिखाता है कि मनुष्य को सम्भूति (परम पुरुष भगवान) तथा विनाश (क्षणिक भौतिक प्राकट्य) दोनों को ही साथ-साथ भलीभाँति जानना चाहिए। केवल भौतिक सृष्टि को जानकर कोई किसी को नहीं बचा सकता क्योंकि प्रकृति में प्रतिक्षण विनाशलीला चलती रहती है। अहन्यहनि भूतानि गच्छन्तीह यमालयम्-- न ही अस्पताल खोलकर किसी को इस विनाशलीला से बचाया जा सकता है। केवल आनन्द तथा सतर्कतापूर्ण शाश्वत जीवन के पूर्ण ज्ञान से किसी को बचाया जा सकता है। सम्पूर्ण वैदिक योजना मनुष्यों को शाश्वत जीवन की उपलब्धि की इस कला में शिक्षित बनाना है। लोग प्रायः इन्द्रियतृप्ति पर आधारित क्षणिक आकर्षक वस्तुओं द्वारा भ्रमित हो जाते हैं, लेकिन इन्द्रिय विषयों के प्रति की जाने वाली सेवा पथभ्रष्ट करने वाली तथा नीचे गिराने वाली है। अतएव हमें अपने आपको तथा अपने संगी को सही ढंग से बचाना चाहिए। सत्य को चाहने या न चाहने का प्रश्न नहीं है। वह तो है ही। यदि हम बारम्बार होने वाले जन्म-मृत्यु के चक्र से बचना चाहते हैं, तो हमें भगवान की भक्ति ग्रहण करनी चाहिए। इसमें कोई समझौता नहीं हो सकता क्योंकि यह तो अनिवार्यता का विषय है। ■

मंत्र १५

हिरण्यमयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत् त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥१५॥

हिरण्मयेन-स्वर्णिम तेज वाले: पात्रेण-दीप्त आवरण से; सत्यस्य-परम सत्य के; अपिहितम्-प्रच्छन्न; मुखम्- चेहरा, मुँह को; तत-वह आवरण; त्वं-तुम; पूषन् – हे पालक; अपावृणु-कृपया हटा लीजिए; सत्य- शुद्ध; धर्माय-भक्त के लिए; दृष्टये-प्रदर्शन हेतु।

अनुवाद

हे भगवन् ! हे समस्त जीवों के पालक! आपका असली मुखमंडल तो आपके चमचमाते तेज से ढका हुआ है। कृपा करके इस आवरण को हटा लीजिए और अपने शद्ध भक्त को अपना दर्शन दीजिए।

तात्पर्य

भगवद्गीता में (१४.२७) अपने साकार स्वरूप के देदीप्यमान तेज (ब्रह्मज्योति) का वर्णन भगवान इस प्रकार करते हैं :

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥

"मैं निराकार ब्रह्म का आधार हूँ जो परम सुख का स्वाभाविक पद है और जो अमर, अविनाशी तथा शाश्वत है।"

'ब्रह्म', 'परमात्मा' तथा 'भगवान' एक ही परम सत्य के तीन स्वरूप हैं। आरम्भकर्ता के लिए 'ब्रह्म" स्वरूप सहजगम्य है।'परमात्मा' स्वरूप उनके द्वारा अनुभवगम्य होता है जिन्होंने और आगे प्रगति कर ली है और 'भगवान-साक्षात्कार' तो परम सत्य की चरम अनुभूति है। इसकी पुष्टि भगवद्गीता (७.७) में हुई है जहाँ पर भगवान यह कहते हैं कि वे परम सत्य की चरम धारणा हैं; मत्तः परतरं नान्यत्। अतः कृष्ण 'ब्रह्म ज्योति' तथा सर्वव्यापी 'परमात्मा' दोनों के स्रोत हैं। भगवद्गीता में (१०.४२) कृष्ण आगे कहते हैं ---

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत ॥

"लेकिन हे अर्जुन! इस सारे विशद् ज्ञान की क्या आवश्यकता है ? मैं अपने एक अंश मात्र से इस समग्र ब्रह्माण्ड में व्याप्त हूँ और इसका पालन करता हूँ।" (भगवद्गीता १०.४२) । इस तरह अपने एक पूर्ण अंश सर्वव्यापी 'परमात्मा' स्वरूप से भगवान सम्पूर्ण भौतिक विराट सृष्टि का पालन करते हैं। साथ ही वे आध्यात्मिक जगत में भी जो कुछ व्यक्त है, उसके पालनकर्ता हैं। अतएव श्री ईशोपनिषद् के इस श्रुति-मंत्र में भगवान को पूषन् अर्थात् चरम पालक के रूप में अभिहित किया गया है।

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान श्री कृष्ण सतत दिव्य आनन्द से पूरित हैं (आनन्दमयोऽभ्यासात्) । आज से ५,००० वर्ष पूर्व जब वे भारत में वृन्दावन में विद्यमान थे तो वे सदैव दिव्य आनन्दमय रहे, यहाँ तक कि अपनी बाल लीलाओं के प्रारम्भ से ही वे वैसे थे। अघ, बक, पूतना तथा प्रलम्ब जैसे अनेक असुरों का वध उनके लिए आनन्ददायक क्रीड़ा थी वृन्दावन के ग्राम में उन्होंने अपनी माता, भ्राता तथा मित्रों के साथ आनन्दपूर्ण लीलाएँ की और जब वे चपल माखन चोर की भूमिका निभा रहे थे, तो उनके सारे संगी उनकी इस चोरी का दिव्य आनंद उठा रहे थे। माखन चोर के रूप में भगवान का यश उपालम्भ के योग्य नहीं क्योंकि माखन चुराकर भगवान अपने शुद्ध भक्तों को आनंद प्रदान कर रहे थे भगवान ने वृन्दावन में जो कुछ भी किया वह सब उन्होंने अपने संगियों को आनंद प्रदान करने के लिए किया था। भगवान ने ये लीलाएँ उन शुष्क चिन्तकों एवं तथाकथित हठयोग के उन कलाबाजों को आकृष्ट करने के लिए की जो परम सत्य की खोज करना चाहते हैं।

भगवान तथा ग्वाल बालों के मध्य बालपन के खेल के विषय में शुकदेव गोस्वामी ने श्रीमद्भागवत में (१०.१२.११) कहा है :

इत्थं सतां ब्रह्मसुखानुभूत्या
दास्यं गतानां परदैवतेन।
मायाश्रितानां नरदारकेण
साकं विजहुः कृतपुण्यपुञ्जाः ॥

"निराकार, आनन्दमय ब्रह्म के रूप में अनुभवगम्य पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान जिनकी पूजा परमेश्वर रूप में भक्तों के द्वारा दास्य भाव में की जाती है और संसारी लोग जिन्हें सामाय व्यक्ति मानते हैं, उन ग्वाल बालों के साथ खेले जिन्होंने अनेक पुण्य कर्मों के संचय के फलस्वरूप अपना यह पद प्राप्त किया था।"

इस प्रकार भगवान अपने आध्यात्मिक संगियों के साथ दिव्य शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा माधुर्य सम्बन्धों में प्रेमपूर्ण कार्यकलापों में लगे रहते हैं।

चूँकि यह कहा जाता है कि भगवान कभी वृन्दावन धाम नहीं छोड़ते तो यह प्रश्न किया जा सकता है कि वे सृष्टि का कार्य किस तरह सँभालते हैं ? इसका उत्तर भगवद्गीता में

(१३.१४-१८) इस प्रकार दिया हुआ है- ‘‘भगवान अपने अंश पुरुष अवतार परमात्मा रूप द्वारा सारी भौतिक सृष्टि में व्याप्त रहते हैं । यद्यपि भगवान को सृष्टि, पालन तथा संहार से किसी प्रकार का सरोकार नहीं रहता, लेकिन वे इन सारी वस्तुओं को अपने अंश परमात्मा द्वारा कराते हैं। प्रत्येक जीव आत्मा कहलाता है और प्रमुख आत्मा जो इन सबको वश में रखता है, परमात्मा कहलाता है।"

ईश्वर-साक्षात्कार की यह पद्धति एक महान् विज्ञान है। भौतिकतावादी सांख्य-योगी इस भौतिक सृष्टि के चौबीस तत्त्वों का विश्लेषण तथा चिन्तन ही कर सकते हैं, क्योंकि उन्हें पुरुष अर्थात भगवान के विषय में कोई जानकारी नहीं रहती। निर्विशेष अध्यात्मवादी ब्रह्म ज्योति की चकाचौंध मात्र से ही मोहित हो जाते हैं। यदि कोई सचमुच परम सत्य को पूरी तरह जानना चाहता है, तो उसे चौबीस भौतिक तत्वों एवं दीप्तमान तेज को वेध कर उनके परे जाना होगा। *श्रीईशोपनिषद्* हिरण्यमयपात्र या भगवान दीप्तमान आवरण को हटाने के लिए प्रार्थना करते हुए इसी ओर संकेत करती है। जब तक यह आवरण हटा नहीं दिया जाता, जिससे कि मनुष्य भगवान के असली चेहरे का दर्शन कर सके तब तक परम सत्य का वास्तविक साक्षात्कार नहीं किया जा सकता।

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान का ‘परमात्मा स्वरूप' विष्णु तत्त्व पुरुष-अवतार कहलाने वाले तीन मूल अंशों में से एक है। ब्रह्माण्ड के भीतर ही इन विष्णु तत्वों में से एक 'क्षीरोदकशायी विष्णु' नाम से जाना जाता है। वह तीन प्रमुख देवों (ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव) में विष्णु है और प्रत्येक जीव में सर्वव्यापी परमात्मा है। ब्रह्माण्ड में दूसरा विष्णु तत्त्व 'गर्भोदकशायी' विष्णु समस्त जीवों के भीतर का सामूहिक परमात्मा है। इन दोनों के परे कारणोदकशायी विष्णु है जो कारण सागर में शयन करता है। वह समस्त ब्रह्माण्डों का स्रष्टा है। योग पद्धति शिक्षा देती है कि गंभीर जिज्ञासु विराट सृष्टि के चौबीसों तत्त्वों को लाँघकर विष्णु तत्त्व से भेंट करे। ज्ञान योग के अभ्यास से निर्विशेष ब्रह्मज्योति की अनुभूति करने में सहायता मिलती है, जो भगवान कृष्ण के दिव्य शरीर का देदीप्यमान तेज है। इसकी पुष्टि भगवद्गीता (१४.२७) तथा ब्रह्म-संहिता (५.४०) दोनों से होती है :

यस्य प्रभा प्रभवतो जगदण्डकोटि
कोटिष्वशेषवसुधादिविभूतिभिन्नम्।
तद्ब्रह्म निष्कलमनन्तमशेषभूतं
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

"लाखों ब्रह्माण्डों में असंख्य लोक हैं और इनमें से प्रत्येक लोक अपनी विराट संरचना के कारण एक दूसरे से भिन्न है। ये सारे लोक ब्रह्मज्योति के एक कोने में स्थित हैं। यह ब्रह्म ज्योति उन पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान गोविंद की केवल शारीरिक किरणें मात्र है, जिनकी मैं पूजा करता हूँ।" ब्रह्म संहिता का यह मंत्र परम सत्य के वास्तविक साक्षात्कार के आधार पर

कहा गया है और *श्रीईशोपनिषद्* का श्रुतिमंत्र इस मंत्र की पुष्टि साक्षात्कार की विधि के रूप में करता है। यह *ईशोपनिषद्* मंत्र तो भगवान से ब्रह्म ज्योति हटाने के लिए सरल प्रार्थना है, जिससे उनके वास्तविक मुख का दर्शन किया जा सके। इस ब्रह्म ज्योति के तेज का वर्णन मुण्डक उपनिषद् (२.२.१०-१२) के अनेक मंत्रों में विस्तारपूर्वक किया गया है।

हिरण्मये परे कोशे
विरजं ब्रह्म निष्कलम्।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां
ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः॥
न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥
ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म
पश्चादह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मै
वेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्॥

"भौतिक आवरण के उस पार के दिव्य क्षेत्र में अनंत ब्रह्मज्योति है, जो भौतिक कल्मष से रहित है। उस तेजस्वी श्वेत प्रकाश को अध्यात्मवेत्ता सभी प्रकाशो में सर्वोत्तम प्रकाश के रूप में जानते हैं। उस प्रक्षेत्र में प्रकाश के लिए सूर्य, चन्द्र, अग्नि या विद्युत की जरूरत नहीं होती। नि:संदेह, भौतिक जगत में जो भी प्रकाश हमको देखने को मिलता है, वह उसी सर्वोपरि प्रकाश का परावर्तन मात्र है। वह ब्रह्म आगे भी है और पीछे भी है, उत्तर, दक्षिण, पूर्व और पश्चिम में भी है एवं ऊपर तथा नीचे भी है। दूसरे शब्दों में, वह सर्वोपरि ब्रह्मज्योति भौतिक जगत एवं आध्यात्मिक जगत में सर्वत्र व्याप्त है।"

पूर्ण ज्ञान का अर्थ है कृष्ण को ब्रह्म-तेज के मूल के रूप में जानना। श्रीकृष्ण ब्रह्म के मूल हैं और श्रीमद्भागवत जैसे शास्त्रों से जहाँ कृष्ण-विज्ञान का विशद् विवेचन हुआ है यह ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। श्रीमद्भागवत में इसके रचयिता श्रील व्यासदेव ने जोर दिया है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी अपनी अनुभूति के अनुसार परम सत्य का वर्णन 'ब्रह्म', 'परमात्मा' या 'भगवान' के रूप में करता है। श्रील व्यासदेव यह कभी नहीं कहते कि परम सत्य एक सामान्य जीव है। जीव को कभी भी सर्वशक्तिमान परम सत्य नहीं मानना चाहिए। यदि वह ऐसा होता तो फिर उसे भगवान से यह प्रार्थना करने की आवश्यकता न पड़ती कि आप अपना देदीप्यमान आवरण हटा लीजिए जिससे हम आपके असली रूप का दर्शन कर सकें।

निष्कर्ष यह है कि परम सत्य की आध्यात्मिक शक्तिमान अभिव्यक्तियों के अभाव में निराकार ब्रह्म की अनुभूति होती है। इसी प्रकार जब किसी को भगवान की भौतिक शक्तियों की अनुभूति होती है, किन्तु उनकी आध्यात्मिक शक्तियों का ज्ञान नहीं रहता या अल्प ज्ञान रहता है, तो उसे 'परमात्मा' का साक्षात्कार होता है। इस प्रकार परम सत्य की 'ब्रह्म' तथा 'परमात्मा' दोनों ही अनुभूतियाँ आशिक हैं । किन्तु जब कोई हिरण्मयपात्र को हटाकर पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान श्रीकृष्ण की पूर्ण शक्ति का अनुभव करता है, तो उसे वासुदेवः सर्वम् इति अर्थात् वासुदेव भगवान श्री कृष्ण ही सब कुछ-ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान्-हैं, की अनुभूति होती है। वे मूल रूप भगवान् हैं और ब्रह्म तथा परमात्मा उनकी शाखाएँ हैं।

भगवद्गीता (६.४६-४७) में तीन प्रकार के अध्यात्म वादियों (योगियों) का तुलनात्मक विवेचन किया गया है -- ये हैं 'निराकार ब्रह्म' के उपासक(ज्ञानी), 'परमात्मा' स्वरूप के उपासक (योगी) तथा भगवान् श्रीकृष्ण' के भक्त (भक्त)। वहाँ कहा गया है कि समस्त प्रकार के योगियों में, जो ज्ञानी हैं अर्थात् जिन्होंने वैदिक ज्ञान का अनुशीलन किया है, सामान्य सकाम कर्मियों से श्रेष्ठ है। लेकिन योगी इनसे भी श्रेष्ठ हैं। इन योगियों में से जो पूरी शक्ति से भगवान की निरन्तर सेवा करते हैं, वे सर्वोच्च हैं। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि एक दार्शनिक (विचारक) एक श्रमिक से श्रेष्ठ है और एक योगी एक विचारक से श्रेष्ठ है। और सभी योगियों में से वह योगी, जो भक्ति योग का पालन करता है और निरंतर भगवान की सेवा में लगा रहता है, सर्वश्रेष्ठ है। *श्रीईशोपनिषद्* हमें इसी पूर्णता की ओर निर्देश करती है।

■

मंत्र १६

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य
व्यूह रश्मीन् समूह तेजो ।
यत् ते रूपं कल्याणतमं तत् ते पश्यामि
योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥१६॥

पूषन्-हे पालक; एकर्षे-आदि विचारक; यम - नियामक, सिद्धान्त; सूर्य-सूरियों (महाभक्तों) के लक्ष्य; प्राजापत्य-प्रजापतियों (मानव के जनक) के शुभचिन्तक; व्यूह-कृपया हटा दें; रश्मीन्-किरणें; समूह-कृपया वापस ले लें, खींच लें; तेजः-तेज; यत्-जिससे; ते-तुम्हारा; रूपम्-स्वरूप; कल्याणतमम्-सर्वाधिक कल्याणकारी; तत-वह; ते-तुम्हारा; पश्यामि- देख सकूँ; यः-जो है; असौ-सूर्य के समान; असौ-वह; पुरुषः- परम पुरुष भगवान्; सः-वह (मैं); अहम्-मैं; अस्मि-हूँ।

अनुवाद

हे भगवन्, हे आदि विचारक, हे ब्रह्माण्ड के पालक, हे नियामक, शुद्ध भक्तों के लक्ष्य, प्रजापतियों के शुभचिंतक! कृपा करके आप अपनी दिव्य किरणों के तेज को हटा लें जिससे मैं आपके आनन्दमय स्वरूप का दर्शन कर सकूँ। आप सूर्य के समान शाश्वत परम पुरुष भगवान है, जिस तरह कि मैं हूं।

तात्पर्य

सूर्य तथा उसकी किरणें गुण की दृष्टि से एक हैं। इसी प्रकार भगवान तथा जीव भी गुण में एक समान हैं। सूर्य एक है लेकिन सूर्य की किरणों के अणु असंख्य हैं । सूर्य की किरणें सूर्य के अंश हैं और सूर्य तथा उसकी किरणें मिलकर पूर्ण सूर्य की रचना करती हैं। सूर्य के ही भीतर सूर्यदेव का निवास है, उसी तरह परम आध्यात्मिक लोक, गोलोक वृन्दावन, के भीतर जिससे ब्रह्म ज्योतिष का तेज उद्भूत होता है, भगवान अपनी नित्य लीलाओं का आनन्द लेते हैं। इसकी पुष्टि ब्रह्म-संहिता (५.२९) में होती है :

चिन्तामणिप्रकरसद्मसु कल्पवृक्ष-
लक्षावृतेषु सुरभीरभिपालयन्तम्।
लक्ष्मी सहस्र शतसम्भ्रमसेव्यमानं
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

''मैं उन आदि भगवान, प्रथम जनक गोविन्द की पूजा करता हूँ जो चिन्तामणि से पूरित तथा लाखों कल्पवृक्षों से घिरे हुए धामों में सुरभि गाय चराते हैं एवं लाखों लक्ष्मियों द्वारा अत्यन्त आदर तथा प्रेम से सदैव सेवित हैं।"

ब्रह्म ज्योति का वर्णन भी ब्रह्म-संहिता ही में मिलता है जहाँ यह कहा गया है कि धर्म आध्यात्मिक लोक गोलोक वृन्दावन से निकलने वाली ब्रह्म ज्योति की किरणें सूर्यलोक से निकलने वाली सूर्य की किरणों की तरह होती हैं जब तक कोई ब्रह्म ज्योति की चकाचौंध को पार नहीं कर लेता तब तक उसे भगवान के धाम की कोई जानकारी प्राप्त नहीं हो पाती। निर्विशेषवादी चिंतक ब्रह्मज्योति की जगमगाहट से अन्धे होकर न तो भगवान के वास्तविक धाम की, न ही उनके दिव्य स्वरूप की अनुभूति कर पाते हैं। ऐसे निर्विशेषवादी चिन्तक अपने अल्प ज्ञान के कारण भगवान कृष्ण के परम कल्याणकारी दिव्य स्वरूप को समझ नहीं पाते। अतएव *श्रीईशोपनिषद्* की इस प्रार्थना में भगवान से याचना की गई है कि वे ब्रह्मज्योति की तेजोमय किरणें हटा लें जिससे कि शुद्ध भक्त उनके परम कल्याणकारी दिव्य स्वरूप का दर्शन कर सके।

निर्विशेष ब्रह्म ज्योति की अनुभूति होने से मनुष्य को ब्रह्म के कल्याणकारी स्वरूप का अनुभव होता है और परमात्मा की अथवा परम को सर्वव्यापक गुण की अनुभूति होने से उसे इससे भी अधिक कल्याणकारी प्रकाश का अनुभव होता है। लेकिन साक्षात भगवान से भेंट करके भक्त को ब्रह्म के सर्वाधिक कल्याणकारी स्वरूप की अनुभूति होती है । चूँकि उन्हें आदि विचारक तथा ब्रह्माण्ड का पालक एवं शुभचिन्तक के नाम से सम्बोधित किया गया है, अतएव परम सत्य निराकार नहीं हो सकता। यह *श्रीईशोपनिषद्* का निर्णय है। पूषन् शब्द विशेष रूप से महत्वपूर्ण है क्योंकि यद्यपि भगवान सारे जीवों का पालन करते हैं लेकिन वे अपने भक्तों का विशेष ध्यान रखते हैं। निर्विशेष ब्रह्मज्योति को पार कर लेने और भगवान के साक्षात् स्वरूप का एवं उनके सर्वाधिक कल्याणकारी नित्य स्वरूप का दर्शन कर लेने के बाद भक्त को परम सत्य की पूर्णरूपेण अनुभूति हो जाती है।

श्रील जीव गोस्वामी अपनी पुस्तक "भगवत् संदर्भ" में कहते हैं, "पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान में परम सत्य की पूर्ण अवधारणा की अनुभूति होती है क्योंकि वे सर्वशक्तिमान हैं और समस्त दिव्य शक्तियों से युक्त हैं। चूँकि ब्रह्म ज्योति में परम सत्य की पूर्ण शक्ति की अनुभूति नहीं हो पाती अतएव 'ब्रह्म-साक्षात्कार' पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान का आंशिक साक्षात्कार है। हे विद्वान ऋषियों! 'भगवान' शब्द के प्रथम अक्षर (भ) के दो अर्थ हैं- पहला "जो पूरी तरह भरण करता है" तथा दूसरा "अभिभावक।" दूसरे अक्षर (ग) का अर्थ है पथप्रदर्शक या सृष्टा। वान का अर्थ है कि उनमें सभी प्राणी निवास करते हैं और वे भी सब में हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि दिव्य शब्द 'भगवान' अनंत ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य, बल तथा प्रभाव को बताता है जिसमें भौतिक उन्माद का लेशमात्र भी नहीं होता।"

भगवान अपने अनन्य भक्तों को पूरी तरह पालन करते हैं और भक्ति की पूर्णता के मार्ग पर उन्हें अग्रसर होने के लिए मार्गदर्शन करते हैं। वे अपने भक्तों के नायक के रूप में

अन्ततोगत्वा उन्हीं को अपने आपको सौंप करके उनकी भक्तिमय सेवा की समस्त आकांक्षाओं को पूरा करते हैं। परमेश्वर के सारे भक्त भगवान की अहैतुकी कृपा से भगवान को आमने सामने देखते हैं और इस तरह भगवान अपने भक्तों को सर्वोच्च आध्यात्मिक लोक, गोलोक वृन्दावन, पहुँचने में सहायक बनते हैं। सृष्टा होने से वे अपने भक्तों को समस्त योग्यताएँ प्रदान कर सकते हैं, जिससे वे अन्ततः उनके पास पहुँच सकते हैं। भगवान समस्त कारणों के कारण हैं। दूसरे शब्दों में चूँकि उनका कोई कारण नहीं है, अतएव वे ही आदि कारण हैं। परिणाम-स्वरूप वे अपनी अन्तरंगा शक्ति को प्रकट करके अपना भोग स्वयं (आत्मरक्षण) करते हैं। बहिरंगा शक्ति उनके द्वारा पूरी तरह से प्रकट नहीं की जाती क्योंकि वे अपना पुरुषों के रूप में विस्तार करते हैं और इन्ही रूपों से वे भौतिक जगत के स्वरूपों का पालन करते हैं। ऐसे विस्तारों के द्वारा वे विराट जगत का सृजन, पालन तथा संहार करते हैं।

सारे जीव भी भगवान के ही विभिन्न अंश (विस्तार) हैं और चूँकि इनमें से कुछ ईश्वर बनने तथा परमेश्वर की नकल करना चाहते हैं, अतएव वे उन्हें इस विराट सृष्टि में प्रवेश करने की अनुमति इस छूट के साथ देते हैं कि वे प्रकृति के ऊपर प्रभुत्व जमाने की अपनी प्रवृत्ति का पूर्ण उपयोग कर लें। भगवान के अंश रूप जीवों की उपस्थिति से सम्पूर्ण व्यवहार जगत क्रिया प्रतिक्रिया से आलोडित हो जाता है। इस तरह जीवों को भौतिक प्रकृति पर प्रभुत्व जमाने की पूरी सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं, लेकिन परम नियन्ता तो अपने स्वांश 'परमात्मा' रूप में जो पुरुषों में से एक है, स्वयं भगवान् ही हैं।

इस प्रकार जीव (आत्मा) तथा नियामक भगवान (परमात्मा) में जमीन आसमान का अन्तर है। परमात्मा नियन्ता हैं और आत्मा नियंत्रित है; अतएव वे विभिन्न स्तर पर हैं। चूँकि परमात्मा आत्मा से पूर्ण सहयोग करता है अतएव वह जीव का चिर संगी माना जाता है।

भगवान का सर्वव्यापी रूप ब्रह्म कहा जाता है, जो सोने, जगने तथा संभावित क्रियात्मक स्थितियों में विद्यमान है तथा जिससे बद्ध एवं मुक्त जीव के रूप में जीव-शक्ति उत्पन्न होती है। चूँकि भगवान परमात्मा तथा ब्रह्म दोनों के ही मूल स्रोत हैं, अतएव वे समस्त जीवों तथा अन्य जो कुछ है उन सबके उत्स हैं। जो यह जान जाता है, वह तुरंत भगवान की भक्ति में लग जाता है। भगवान का ऐसा शुद्ध एवं जागरूक भक्त तन-मन से भगवान के प्रति आसक्त रहता है और जब भी ऐसा भक्त अपने जैसे भक्तों के साथ एकत्र होता है, तो उन सबके पास भगवान के दिव्य कार्यकलापों के महिमा-गायन के अतिरिक्त और कोई कार्य नहीं रहता। जो लोग शुद्ध भक्तों के समान पूर्ण नहीं हैं अर्थात उन्होंने भगवान के केवल ब्रह्म या परमात्मा स्वरूप का साक्षात्कार किया है वे पूर्ण भक्तों के कार्यकलापों के महत्त्व को नहीं समझ सकते। भगवान अपने शुद्ध भक्तों के हृदय के भीतर आवश्यक ज्ञान प्रदान करके सदैव उनकी सहायता करते हैं और इस तरह अपनी विशेष कृपा से अज्ञान-अंधकार दूर कर देते हैं। ज्ञानी तथा योगी इसकी कल्पना तक नहीं कर सकते क्योंकि वे

न्यूनाधिक अपनी शक्ति पर आश्रित रहते हैं। जैसाकि कठोपनिषद् (१.२.२३) में कहा गया है भगवान उन्हीं के द्वारा ज्ञेय हैं जिन पर उनकी कृपा होती है, अन्य कि के द्वारा नहीं। ऐसी विशेष कृपा उनके शुद्ध भक्तों को ही प्रदान की जाती है। इस तरह *श्रीईशोपनिषद्* भगवान की कृपा का संकेत करती है, जो ब्रह्म ज्योति के कार्यक्षेत्र के परे है। ■

मंत्र १७

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम् ।
ॐ क्रतो स्मर कृतं स्मर क्रतो स्मर कृतं स्मर ॥१७॥

वायुः-प्राणवायु; अनिलम्- वायु का पूर्णकोष; अमृतम्-अविनाशी; अथ-अब; इदम्-यह; भस्मान्तं भस्म हो जाने पर; शरीरम्-शरीर; ॐ-हे भगवान; क्रतो- समस्त यज्ञों के भोक्ता; स्मर-कृपया स्मरण करें; कृतम्-मैंने जो कुछ किया है; स्मर-कृपया स्मरण करें; क्रतो-परम भोक्ता; स्मर-कृपया स्मरण करें; कृतम्- आपके लिए मेरे द्वारा किया गया; स्मर-कृपया स्मरण करें।

अनुवाद

इस क्षणभंगुर शरीर को भस्म हो जाने दें और प्राणवायु को वायु के पूर्णकोष में मिल जाने दें । अब हे भगवन्! मेरे समस्त यज्ञों को स्मरण करें और चूँकि आप चरम भोक्ता हैं अतएव मैंने आपके लिए जो कुछ किया है उसे स्मरण करें।

तात्पर्य

यह क्षणभंगुर शरीर निश्चय ही पराया वस्त्र है। *भगवद्गीता* में (२.२०) स्पष्ट कहा गया है कि इस भौतिक शरीर के विनाश हो जाने पर जीवात्मा नष्ट नहीं होता, न ही वह अपनी पहचान खोता है। जीवात्मा का रूप कभी निराकार या निर्विशेष नहीं होता, प्रत्युत भौतिकवेश जो है, वह आकारहीन होता है और वह अविनाशी पुरुष के रूप के अनुसार आकार ग्रहण करता है। कोई भी जीव मूलत: निराकार नहीं है, जैसाकि अल्पज्ञानी गलती से मानते हैं। यह मंत्र इस तथ्य की पुष्टि करता है कि भौतिक शरीर के विनष्ट होने के बाद भी जीव का अस्तित्व बना रहता है।

इस भौतिक जगत में प्रकृति जीवों को उनकी इन्द्रियतृप्ति की प्रवृत्तियों के अनुसार विभिन्न प्रकार के शरीर प्रदान करके विचित्र कार्यकुशलता का प्रदर्शन करती है। जो जीव मल का स्वाद लेना चाहता है उसे ऐसा शरीर प्रदान किया जाता है, जो मल खाने के सर्वथा उपयुक्त हो-जैसे कि शूकर का। इसी तरह जो दूसरे पशुओं का मांस खाना और रक्त पीना चाहता है उसे उपयुक्त दांतों और पंजों से युक्त व्याघ्र का शरीर प्रदान किया जाता है। मनुष्य न ही मांस खाने के निमित्त बना है, न ही वह मल का स्वाद लेना चाहता है, चाहे वह अपनी निपट आदिम अवस्था में ही क्यों न हो। मनुष्य के दाँत इस तरह बने हैं कि वे फल

तथा शाक को काटकर चबा सकें यद्यपि उसे दो कुकरदाढ़ प्रदान की गई है जिससे आदिम अवस्था के मनुष्य, यदि चाहें, तो मांस खा सकें।

किन्तु कुछ भी हो, समस्त पशुओं तथा मनुष्यों के भौतिक शरीर जीव के लिए अस्वाभाविक है । वे जीव की इन्द्रियतृप्ति की इच्छा के अनुसार बदलते रहते हैं। विकास-क्रम में जीव एक शरीर बदल कर दूसरा शरीर ग्रहण करता है। जब यह संसार जल से पूर्ण था तो जीव ने जलीय रूप (जलचर योनि) धारण किया। फिर वह शाक-जीवन में गया और उसे पार करके कीट-जीवाणु में आया; फिर कीट से पक्षी जीवन में, पक्षी से पशु जीवन में और पशु जीवन से मनुष्य जीवन में आया। यह मनुष्य रूप जब आध्यात्मिक ज्ञान की चेतना से पूर्ण हो जाता है, तो यह उसका सर्वाधिक विकसित रूप होता है। इस मंत्र में मनुष्य की इस आध्यात्मिक चेतना का सर्वाधिक विकसित रूप वर्णित है। मनुष्य को इस शरीर का त्याग करना चाहिए जो जल कर राख हो जाएगा और प्राणवायु को शाश्वत वायु-कोश में मिल जाने देना चाहिए। जीवन के सारे कार्यकलाप शरीर के भीतर विविध प्रकार की वायु के परिभ्रमण से, जिन्हें संक्षिप्त रूप में प्राणवायु कहते हैं, सम्पन्न होते हैं। योगीजन सामान्यतः: शरीर में वायु को वश में करने का अध्ययन करते हैं। ऐसा माना जाता है कि आत्मा एक वायु चक्र से उठ कर एक अन्य वायु चक्र तक उठता जाता है जब तक कि वह सर्वोच्च चक्र ब्रह्मरन्ध्र में नहीं पहुँच जाता । इस बिन्दु से पूर्ण योगी अपने आपको अन्य किसी इच्छित लोक तक ले जा सकता है। इसकी विधि यह है कि एक भौतिक शरीर त्याग कर दूसरे में प्रवेश किया जाए, लेकिन ऐसे रूपान्तर की पूर्णता तभी सम्भव है जब जीव अपने इस भौतिक शरीर का सर्वथा परित्याग कर सके और, जैसाकि इस मंत्र में सुझाव दिया गया है, आध्यात्मिक आकाश में प्रवेश कर सके जहाँ वह सर्वथा भिन्न प्रकार का शरीर विकसित कर सकता है-एक आध्यात्मिक शरीर जिसकी न तो कभी मृत्यु होती है,न कोई परिवर्तन।

भौतिक जगत में प्रकृति जीव को उसकी इन्द्रियतृप्ति की विभिन्न इच्छाओं की पूर्ति के लिए शरीर बदलने के लिए बाध्य करती है। ये इच्छाएँ विभिन्न योनियों के रूप में प्रकट होती हैं-एक कीड़े से लेकर सर्वाधिक श्रेष्ठ देहधारी ब्रह्मा तथा देवताओं के शरीरों के रूप में। इन सभी जीवों के शरीर विभिन्न शरीरों के रूप में पदार्थ से बने होते हैं। बुद्धिमान मनुष्य इन शरीरों की विविधता में नहीं अपितु इनके आध्यात्मिक स्वरूप में एकत्व देखता है। वह आध्यात्मिक स्फुलिंग, जो परमेश्वर का अंश है, एक ही है चाहे वह शूकर के शरीर में हो या देवता के शरीर में। जीव अपने पाप से पुण्य कर्मों के अनुसार विभिन्न शरीर धारण करता है। मनुष्य शरीर सर्वाधिक विकसित है और पूर्ण चेतना से युक्त है। भगवद्गीता (७.१९) के अनुसार अनेकानेक जन्मों तक ज्ञान का अनुशीलन करने के बाद सर्वाधिक श्रेष्ठ मनुष्य भगवान की शरण ग्रहण करता है। ज्ञान का अनुशीलन अपनी पूर्णता को तब प्राप्त होता है जब ज्ञाता परमेश्वर वासुदेव की शरण में आने के बाद तक पहुँच जाता है। अन्यथा, अपने आध्यात्मिक स्वरूप का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेने पर भी यदि वह यह नहीं जान पाता कि सारे जीव उस पूर्ण के शाश्वत अंश हैं और वे कभी पूर्ण नहीं बन सकते तो वह इस भौतिक संसार

में पुन: आ गिरता है । उसे सचमुच गिरना ही पड़ेगा भले ही वह ब्रह्म ज्योति से एकाकार क्यों न हो चुका हो।

जैसाकि हमने पिछले मंत्रों से जाना है, भगवान के दिव्य शरीर से उद्भूत होने वाली ब्रह्म ज्योति आध्यात्मिक स्फुलिंगों से परिपूर्ण है, जो अस्तित्व की पूर्ण चेतना से युक्त व्यष्टि जीव है। कभी-कभी ये जीव इन्द्रियों का भोग करना चाहते हैं; अतएव उन्हें भौतिक जगत में रख दिया जाता है, जिससे वे अपनी इन्द्रियों के आदेशानुसार मिथ्या स्वामी बन सकें। स्वामी बनने की इच्छा जीवों का भवरोग है क्योंकि जीव इन्द्रियभोग के वशीभूत होकर इस जगत में विभिन्न शरीरों में देहान्तर करता रहता है। ब्रह्म ज्योति से एकाकार होना परिपक्व ज्ञान का प्रतीक नहीं है। भगवान के प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण करने तथा आध्यात्मिक सेवाभाव विकसित करने पर ही कोई सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त कर सकता है।

इस मंत्र में जीव अपने भौतिक शरीर तथा भौतिक वायु को त्याग कर ईश्वर के आध्यात्मिक साम्राज्य में प्रवेश करने के लिए प्रार्थना करता है। भक्त भगवान से प्रार्थना करता है कि वे उसके उन कार्यकलापों तथा यज्ञों को स्मरण करें जिन्हें उसने अपने भौतिक शरीर के भस्म होने के पूर्व सम्पन्न किया था। यह प्रार्थना वह मृत्यु के समय अपने विगत कर्मों तथा अपने चरम लक्ष्य की पूर्ण चेतना रहते हुए करता है। जो व्यक्ति भौतिक प्रकृति के वश में पूर्णरूपेण रहता है, वह अपने भौतिक शरीर के अस्तित्व-काल के सारे जघन्य कार्यों का स्मरण करता है और उसके फलस्वरूप मृत्यु के बाद दूसरा शरीर पाता है। भगवद्गीता में (८.६) इस सत्य की पुष्टि हुई है :

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमैवेति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥

"हे कुन्तीपुत्र! जब मनुष्य शरीर त्याग करता है, तो वह अपने अस्तित्व की जिस दशा का स्मरण करता है, वह उसे निश्चय ही प्राप्त होती है।" इस तरह मन मरने वाले जीव की प्रवृत्तियों को अगले जीवन में ले जाता है।

विकसित मन से रहित सीधे सादे पशुओं के विपरीत मरते समय मनुष्य अपने जीवन के कार्यकलापों को रात्रि के स्वप्नों की तरह स्मरण कर सकता है; फल: उसका मन भौतिक इच्छाओं से अधिभारित रहता है; अतएव वह आध्यात्मिक शरीर प्राप्त करके आध्यात्मिक जगत में प्रवेश नहीं कर सकता। किन्तु भगवद्भक्ति के अभ्यास से भक्तगण ईश्वर के प्रति प्रेमभाव विकसित कर लेते हैं। यदि भक्त को अपनी मृत्यु के समय ईश्वर की सेवा का स्मरण नहीं भी हो पाता तो भी भगवान् उसे नहीं भूलते। यह प्रार्थना भगवान् को भक्त के यज्ञों का स्मरण कराने के लिए की जाती है, किन्तु यदि इस प्रकार से स्मरण न भी कराया जाए तो भी भगवान अपने शुद्ध भक्त की भक्ति को नहीं भूलते।

भगवान ने भगवद्गीता में (९.३०-३४) अपने भक्तों के साथ अपने घनिष्ठ सम्बन्ध का स्पष्ट वर्णन किया है, "यदि कोई अत्यधिक घृणित कर्म भी करे, किन्तु यदि वह भक्ति में प्रवृत्त

रहे तो भी उसे साधु सदृश माना जाना चाहिए क्योंकि वह अपने संकल्प में ठीक तरह दृढ़ बना हुआ है। वह तुरन्त सदाचारी बन जाता है और चिरशान्ति प्राप्त करता है। हे कुन्तीपुत्र! निर्भीक होकर घोषित कर दो कि मेरा भक्त कभी नष्ट नहीं होता। हे पृथापुत्र । जो मेरी शरण में आते हैं चाहे वे निम्न-जन्मा-स्त्री, वैश्य तथा शूद्र (श्रमिक)- क्यों न हो, परम गन्तव्य को प्राप्त कर सकते हैं फिर पुण्यात्मा ब्राह्मणों, भक्तों तथा राजर्षियों का क्या कहना? तुम अपना मन सदैव मेरी प्रेमाभक्ति में लगाओ, मेरे भक्त बनो, मुझे नमस्कार करो और मेरी पूजा करो। मुझमें लीन रहने पर तुम निश्चित रूप से मेरे पास आओगे।"

श्रील भक्तिविनोद ठाकुर इन श्लोकों की व्याख्या इस प्रकार करते हैं-"कृष्ण भक्त को सन्तों के सद्मार्ग पर समझना चाहिए भले ही वह दुश्चरित्र क्यों न हो। मनुष्य को चाहिए कि 'दुश्चरित्र' का अर्थ ठीक से समझे । बद्ध जीव को दो प्रकार के कार्य करने होते हैं-एक तो शरीर के पालन के लिए तथा दूसरे आत्म-साक्षात्कार के लिए। सामाजिक पद, मानसिक विकास, स्वच्छता, तपस्या, भोजन तथा जीवन-संघर्ष-ये सब शरीर के पालन के लिए हैं। आत्म-साक्षात्कार का कार्य भगवद्भक्त होने पर सम्पन्न होता है और इसमें भी कार्य करना होता है। ये दो विभिन्न कार्य समानान्तर चलते हैं क्योंकि बद्ध जीव शरीर का पालन नहीं त्याग सकता है लेकिन ज्यों-ज्यों भक्ति में वृद्धि होती है त्यों-त्यों शरीर पालन के लिए किए जाने वाले कार्य घटने लगते हैं। जब तक भक्ति का अनुपात सही बिन्दु तक नहीं पहुँच जाता तब तक यदा-कदा सांसारिकता का प्रदर्शन हो ही जाता है, लेकिन इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि ऐसी सांसारिकता अधिक काल तक नहीं चल पाती क्योंकि भगवत्कृपा से ऐसी अपूर्णताएँ शीघ्र ही समाप्त हो जाती हैं। अतएव भक्ति का मार्ग ही एकमात्र सही मार्ग है। यदि मनुष्य सही मार्ग पर रहे तो यदा-कदा सांसारिकता के आ जाने से आत्म-साक्षात्कार की प्रगति में रुकावट नहीं आती।"

भक्ति की सुविधाएँ निर्विशेषवादियों को नहीं मिल पाती क्योंकि वे भगवान के ब्रह्म ज्योति स्वरूप के प्रति अनुरक्त रहते हैं। जैसाकि पिछले मंत्र में सुझाया गया है वे ब्रह्म ज्योति को बेध नहीं पाते क्योंकि वे भगवान के व्यक्तित्व में विश्वास नहीं करते। उनका व्यवसाय अधिकतर शब्दों की जादूगरी है तथा वह कार्य मानसिक कल्पनाओं से सम्बन्धित होता है। फलस्वरूप निर्विशेषवादी निरर्थक श्रम करते हैं जैसाकि *भगवद्गीता* के बारहवें अध्याय (१२.५) में पुष्टि की गयी है।

इस मंत्र में प्रस्तावित सारी सुविधाएँ परम सत्य के साकार स्वरूप के निरन्तर सान्निध्य द्वारा आसानी से प्राप्त की जा सकती हैं। भगवद्भक्ति अनिवार्यतः भक्त द्वारा सम्पन्न नौ दिव्य क्रियाओं से युक्त होती है।

(१) भगवान् के विषय में श्रवण, (२) भगवान् का गुणगान, (३) भगवान् का स्मरण, (४) भगवान् के चरणकमलों की सेवा, (५) भगवान् की पूजा, (६) भगवान् की प्रार्थना, (७) भगवान् की सेवा, (८) भगवान् के साथ साख्य भाव का आनंद लेना तथा, (९) भगवान को

सर्वस्व समर्पण करना। भक्ति के ये नौ सिद्धान्त, चाहे एक एक करके लिए जाँय या सभी इकट्ठे लिए जाँए, भक्त को ईश्वर के नित्य सम्पर्क में बने रहने में सहायक बनते हैं। इस प्रकार जीवन के अन्त में भक्त भगवान का स्मरण आसानी से कर सकता है। इन नौ सिद्धान्तों में से किसी एक को ग्रहण करके निम्नलिखित सुविख्यात भक्तों ने सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त की थी --- (१) महाराज परीक्षित ने, जो *श्रीमद्भागवत* के नायक हैं, श्रवण द्वारा वांछित फल प्राप्त किया। (२) *श्रीमद्भागवत* के वक्ता शुकदेव गोस्वामी ने भगवान के गुणगान द्वारा सिद्धि प्राप्त की। (३) अक्रूर जी ने प्रार्थना करके वांछित फल पाया । (४) प्रह्लाद महाराज ने स्मरण द्वारा मनोवांछित फल पाया । (५) पृथु महाराज ने पूजा द्वारा सिद्धि प्राप्त की। (६) लक्ष्मी जी ने भगवान के चरणकमलों की सेवा करके सिद्धि पाई। (७) हनुमान जी ने साक्षात भगवान की सेवा करके वांछित फल प्राप्त किया। (८) अर्जुन ने भगवान की मित्रता द्वारा वांछित फल पाया। (९) महाराज बलि ने भगवान को अपना सर्वस्व अर्पित करके वांछित फल प्राप्त किया।

इस मंत्र की तथा एक तरह से वैदिक स्तोत्रों के समस्त मंत्रों की व्याख्या वेदान्त सूत्र में सारबद्ध है और *श्रीमद्भागवत* में समुचित ढंग से विवेचित है। श्रीमद्भागवत वैदिक ज्ञान रूपी वृक्ष का पक्व फल है। श्रीमद्भागवत में यह मंत्र विशेष महाराज परीक्षित तथा शुकदेव गोस्वामी की भेंट के प्रारम्भ में ही पारस्परिक प्रश्नोत्तर में विवेचित हुआ है। भगवत विज्ञान का श्रवण तथा कीर्तन भक्ति का मूल सिद्धान्त है। महाराज परीक्षित ने सम्पूर्ण भागवत सुनी और शुकदेव गोस्वामी ने सुनाई। महाराज परीक्षित ने शुकदेव से पूछा था क्योंकि वे अपने समय के किसी भी महान् योगी या अध्यात्मवादी से बड़े गुरु थे। महाराज परीक्षित का मुख्य प्रश्न था---

"प्रत्येक मनुष्य का, विशेषतया मृत्यु के समय, क्या कर्तव्य है?"

शुकदेव गोस्वामी ने इसका उत्तर इन शब्दों में दिया :

तस्माद् भारत सर्वात्मा भगवानीश्वरो हरिः।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताभयम् ॥

"प्रत्येक व्यक्ति को, जो समस्त चिन्ताओं से मुक्त होने का इच्छुक है, चाहिए कि वह पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान के विषय में सुने, उनका गुणगान करे और उनका स्मरण करे क्योंकि भगवान सभी वस्तुओं के परम निर्देशक समस्त कष्टों को हरने वाले तथा समस्त जीवों के परमात्मा हैं।" (भागवत २.१.५)

तथाकथित मानव समाज सामान्यतः: रात्रि में सोने तथा संभोग करने में और दिन में यथासंभव अधिकाधिक धन कमाने या परिवार के पालनार्थ वस्तुएँ खरीदने में लगा रहता है। लोगों के पास पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान के विषय में बातें करने या उनके विषय में जिज्ञासा करने के लिए बहुत कम समय रहता है। उन्होंने ईश्वर के अस्तित्व को कई प्रकार से नकार रखा है जिनमें मुख्य है --- उन्हें निर्विशेष घोषित करना अर्थात् उन्हें इन्द्रियबोध रहित

बताना। किन्तु वैदिक साहित्य में, चाहे वह उपनिषद्, वेदान्तसूत्र हो या भगवद्गीता तथा श्रीमद्भागवत हो, यह घोषित किया गया है कि भगवान सचेतन हैं और अन्य सभी जीवों से श्रेष्ठ है। उनके महिमामय कार्यकलाप उनसे अभिन्न हैं। अतएव मनुष्य को संसारी राजनीतिज्ञों एवं समाज के तथाकथित बड़े-बड़े लोगों की अनुचित गन्दी बातें सुनने तथा बोलने में लिप्त नहीं होना चाहिए अपितु जीवन को इस तरह ढालना चाहिए कि एक पल भी व्यर्थ गँवाये बिना वह दैवी कार्यकलापों में लग सके। श्री ईशोपनिषद् हमें ऐसे दैवी कार्यकलापों की ओर निर्देशित करता है। यदि कोई भक्ति का अभ्यस्त नहीं हो जाता, तो वह मृत्यु के समय क्या स्मरण रख पाएगा जब शरीर छिन्न-भिन्न हुआ रहता है और वह किस तरह परम शक्तिशाली भगवान से अपने यज्ञों का स्मरण करने के लिए प्रार्थना कर सकेगा ? यज्ञ का अर्थ है इन्द्रियों को उनके स्वार्थ से रोकना। अपने जीवन काल में इन्द्रियों को भगवान की सेवा में लगातार इस कला को सीखना होता है। मृत्यु के समय ऐसे अभ्यास के फलों का सदुपयोग किया जा सकता है। ■

मंत्र १८

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मन्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ॥१८॥

अग्ने-अग्नि के समान शक्तिशाली भगवान्; नय - कृपया ले चलें; सुपथा- सही मार्ग से; राऐ-अपने पास तक पहुँचने के लिए; अस्मान्- हमें; विश्वानि --समस्त; देव-हे भगवान; वयुनानि-कर्मों को; विद्वान्-जानने वाला, ज्ञाता; युयोधि-कृपया हटाइए; अस्मत्-हमसे; जुहुराणम्-मार्ग के सारे अवरोधों को; एनः-सारी बुराइयाँ; भूयिष्ठां- अत्यधिक; ते-आपको; नमः उक्तिम्-नमस्कार के वचन; विधेम-मैं करता हूँ।

अनुवाद

हे अग्नि के समान शक्तिशाली भगवान, हे सर्वशक्तिमान! अब मैं आपको नमस्कार करता हूँ और आपके चरणों पर दण्डवत प्रणाम करता हूँ। हे भगवन्! आप अपने तक पहुँचने के लिए मुझे सही मार्ग पर ले चलें और चूँकि आप मेरे द्वारा भूतकाल में किया गया सब कुछ जानते हैं अतएव मुझे विगत पापों के फलों से मुक्त कर दें जिससे मेरी प्रगति में कोई अवरोध न आए।

तात्पर्य

भगवान की शरण ग्रहण करने तथा अहैतुकी कृपा के लिए प्रार्थना करने से भक्त पूर्ण आत्म साक्षात्कार के पथ पर प्रगति कर सकता है । भगवान को अग्नि के रूप में सम्बोधित किया गया है क्योंकि वे किसी भी वस्तु को भस्म कर सकते हैं जिसमें शरणागत व्यक्ति के पाप भी सम्मिलित हैं। जैसा कि पिछले मंत्रों में वर्णन हुआ है, उस परम का वास्तविक या चरम स्वरूप पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान हैं और उनका निर्विशेष ब्रह्म ज्योति का स्वरूप उनके मुख के ऊपर दीप्तिमान् आवरण है। इस प्रयास में आत्म-साक्षात्कार का कर्मकाण्ड पथ सबसे निम्न है। ऐसे कर्म वेदों के अनुष्ठानों से लेशमात्र भी विचलित होने पर विकर्म में परिणत हो जाते हैं, अर्थात् ऐसे कर्मों में जो कर्ता के हित में नहीं होते। ऐसे विकर्म भ्रमित जीव द्वारा मात्र इन्द्रियतृप्ति के लिए किए जाते हैं; अतएव ऐसे कर्म आत्म- साक्षात्कार के मार्ग में बाधक बनते हैं।

आत्म-साक्षात्कार मनुष्य योनि में ही सम्भव है, अन्य रूपों में नहीं। कुल मिलाकर ८४,००,००० योनियाँ या प्राणियों के स्वरूप हैं जिनमें से मनुष्य का स्वरूप ब्राह्मण संस्कृति से युक्त होने के कारण अध्यात्म ज्ञान प्राप्त करने का एकमात्र अवसर प्रदान करता है। ब्राह्मण संस्कृति में सत्य, इन्द्रिय संयम, सहिष्णुता, सफलता, पूर्ण ज्ञान तथा ईश्वर में पूर्ण श्रद्धा सम्मिलित हैं। ऐसा नहीं है कि कोई यूं ही अपने उच्च कुल का गर्व करे। ब्राह्मण का पुत्र होना ब्राह्मण बनने का एक सुअवसर है, जिस प्रकार किसी बड़े आदमी का पुत्र होने से बड़ा आदमी बनने का एक अवसर मिलता है। किन्तु ऐसा जन्म-अधिकार सब कुछ नहीं होता क्योंकि मनुष्य को तब भी अपने लिए ब्राह्मण की योग्यता प्राप्त करनी होती हैं । ज्योंही मनुष्य ब्राह्मण का पुत्र होने के कारण अपने जन्म पर गर्व करता है किन्तु वास्तविक ब्राह्मण के गुणों को प्राप्त करने की उपेक्षा करता है त्योंही वह विपथ हो जाता है और आत्म-साक्षात्कार के मार्ग से डिग जाता है। इस प्रकार मनुष्य के रूप में उसका जीवन-उद्देश्य विफल हो जाता है।

भगवद्गीता में (६.४१-४२) हमें भगवान आश्वस्त करते हैं कि आत्म-साक्षात्कार के पथ से पतित अर्थात् योगभ्रष्ट लोगों को या तो अच्छे ब्राह्मण परिवारों में या धनी व्यापारियों के परिवारों में जन्म लेकर अपना सुधार करने का अवसर प्रदान किया जाता है। ऐसे जन्मों से आत्म-साक्षात्कार के उच्च अवसर प्रदान किए जाते हैं। यदि मोहवश इन अवसरों का दुरुपयोग किया जाता है, तो मनुष्य परम शक्तिमान भगवान् द्वारा प्रदत्त जीवन के सुनहरे अवसर को खो देता है।

विधि विधान ऐसे हैं कि जो इनका पालन करता है, वह सकाम कर्मों के पद से उठ कर दिव्य ज्ञान के पद को प्राप्त करता है। अनेकानेक जन्मों तक दिव्य ज्ञान का पद प्राप्त कर लेने पर जब मनुष्य भगवान की शरण ग्रहण करता है तभी वह पूर्ण बनता है। यह सामान्य कार्य है। किन्तु यदि कोई प्रारम्भ में ही शरण ग्रहण कर लेता है जैसी कि इस मंत्र में संस्तुति की गई है, तो वह भक्तिमयी प्रवृत्ति ग्रहण करते ही समस्त प्रारंभिक अवस्थाओं को पार कर लेता है। जैसाकि *भगवदगीता* में (१८.६६) कहा गया है, भगवान तुरंत उसे शरणागत का भार अपने ऊपर ले लेते हैं और उसे उसके सभी पाप कर्मों के फलों से मुक्त कर देते हैं। कर्मकाण्ड में अनेक पाप निहित हैं जबकि ज्ञानकाण्ड में ऐसे पाप कर्मों की संख्या कम है, किन्तु भगवद्भक्ति या भक्ति-पथ में किसी प्रकार के पाप होने की सम्भावना नहीं रहती। भगवद्भक्त भगवान के सारे गुणों को प्राप्त कर लेता है, तो ब्राह्मण के गुणों के विषय में क्या कहा जाए ? भक्त स्वतः एक दक्ष ब्राह्मण के गुण प्राप्त करके यज्ञ सम्पन्न करने का अधिकारी हो जाता है, भले ही उसका जन्म ब्राह्मण कुल में न हुआ हो। ऐसी है भगवान् की सर्वशक्तिमत्ता। वे ब्राह्मण कुल में उत्पन्न व्यक्ति को निम्न कुल जन्मा चांडाल बना सकते हैं और चांडाल को भक्ति के बल पर योग्य ब्राह्मण से भी श्रेष्ठ बना सकते हैं।

चूँकि सर्वशक्तिमान भगवान सबके हृदय के भीतर स्थित हैं, अत: वे अपने निष्ठावान भक्तों को निर्देश दे सकते हैं, जिससे वे सही मार्ग पा सकते हैं। ऐसे निर्देश विशेषतः भक्त के

अन्यथा चाहने पर भी दिए जाते हैं। जहाँ तक अन्यों का सम्बन्ध है, ईश्वर किसी कर्ता को उसके ही अपने उत्तरदायित्व पर स्वीकृति देते हैं किन्तु भक्त को भगवान इस तरह निर्देश देते हैं कि वह कभी त्रुटि नहीं करता। श्रीमद्भागवत में (११.५.४२) कहा गया है :

स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य
त्यक्तान्यभावस्य हरिः परेशः।
विकर्म यच्चोत्पतितं कथंचिद्
धुनोति सर्वं हृदि सन्निविष्टः॥

''भगवान अपने पूर्णशरणागत भक्त के प्रति इतने दयालु हैं कि यद्यपि भक्त कभी-कभी विकर्म अर्थात् वैदिक आदेशों के विरुद्ध कर्म के बंधन में आ गिरता है, तो भी वे भक्त के हृदय के भीतर से त्रुटियों को ठीक कर देते हैं। इसका कारण यह है कि भक्त भगवान को अत्यधिक प्रिय है।"

श्री ईशोपनिषद के इस मंत्र में भक्त भगवान से प्रार्थना करता है कि वे उसके हृदय के भीतर से उसे सुधारें। त्रुटि करना मनुष्य का सहज गुण है। बद्ध जीव प्रायः त्रुटि करता रहता है और ऐसे अनचाहे पापों का एकमात्र उपचार यही है कि भगवान के चरणों में समर्पित हुआ जाए जिससे वे इनसे बचने का मार्गदर्शन करते रहें । भगवान पूर्ण-शरणागति का भार अपने ऊपर लेते हैं। इस तरह सारी समस्याएँ भगवान की शरण ग्रहण करने एवं उनके निर्देशानुसार कार्य करने मात्र से ही हल हो जाती हैं। ऐसे निर्देश निष्ठावान भक्त को दो प्रकार से दिए जाते हैं। पहला सन्तों, शास्त्रों तथा गुरु के द्वारा तथा दूसरा स्वयं भगवान द्वारा जो हर एक के हृदय में वास करते हैं। इस तरह वैदिक ज्ञान से प्रबुद्ध भक्त सभी प्रकार से सुरक्षित रहता है।

वैदिक ज्ञान दिव्य है, अतः संसारी शैक्षिक पद्धतियों से नहीं समझा जा सकता। केवल भगवान तथा गुरु की कृपा से ही मनुष्य वैदिक मंत्रों को समझ पाता है। यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। यदि वह प्रामाणिक गुरु की शरण ग्रहण कर लेता है, तो समझना चाहिए कि उसे भगवद्कृपा प्राप्त हो गई है। भगवान भक्त के लिए गुरु रूप में प्रकट होते हैं। इस तरह गुरु, वैदिक आदेश तथा भीतर से स्वयं भगवान् भक्त का पूरे सामर्थ्य से मार्गदर्शन करते हैं। इससे भक्त के भौतिक मोह की माया में पुनः गिरने की कोई संभावना नहीं रहती। इस तरह चारों ओर से संरक्षित भक्त पूर्ण सिद्धि के चरम लक्ष्य तक निश्चित रूप से पहुँचता है। इस मंत्र में इस सम्पूर्ण विधि का संकेत है और *श्रीमद्भागवत* में (१.२.१७-२०) इसकी आगे की व्याख्या हुई है।

भगवान के यश का श्रवण तथा कीर्तन स्वयं ही एक पुण्य कार्य है। भगवान चाहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति श्रवण तथा कीर्तन करें क्योंकि वे समस्त जीवों के हितैषी हैं। भगवान के यश के श्रवण तथा कीर्तन से मनुष्य समस्त अवांछित वस्तुओं से शुद्ध हो जाता है और तब ईश्वर के प्रति उसकी भक्ति स्थिर हो जाती है। इस अवस्था में भक्त में ब्राह्मण गुण आ जाते हैं और प्रकृति के अधम गुणों (रजो तथा तमो) के फल पूर्णतया लुप्त हो जाते हैं। भक्त अपनी

भक्ति के बल पर पूर्णतया प्रबुद्ध हो उठता है और वह भगवान के पथ को तथा उनको प्राप्त करने की पद्धति को जान लेता है। ज्यों-ज्यों सारे संशय घटते जाते हैं त्यों-त्यों वह शुद्ध भक्त बनता जाता है।

इस प्रकार पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान श्री कृष्ण के निकट लाने वाले ज्ञान श्री ईशोपनिषद् के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए। ■